म० म० डा० गोपीनाथ कविराज

भूमिका

इस ग्रंथ का आलोच्य विषय है ज्ञानगंज तथा उससे आविष्कृत विज्ञान समूह की पर्यालोचना। जब ज्ञान का उत्कर्ष होता है, जब ज्ञान ज्ञानातीत भूमि की ओर आरोहण करने लगता है, तब वही विज्ञान है। इसके पूर्व अर्थात् ज्ञानातीत भूमि की ओर आरोहण के पूर्व इत:स्तत: बिखरे ज्ञान का केन्द्रीयकरण आवश्यक है। जहाँ समस्त ज्ञान का केन्द्रीयकरण होता है, उसे हृदय कहते हैं। यह हृदय भौतिक Heart नहीं है। यह हृदय है, जहाँ समस्त बोध केन्द्रित होता है। इस हृदय की सत्ता को मानव की स्थूल देह में खोजकर भी नहीं पाया जा सकता। भावपथ के पथिक जिस हृदय में भाव का साकार विग्रह साक्षात्कृत करते हैं, भक्तगण जिस हृदय में अष्टदल के प्रस्फुटन के पश्चात् उस पर आसीन परम प्रेमास्पद को पाकर परमाभक्ति से सराबोर हो जाते हैं और सिद्धयोगी जिस हृदय को प्राप्त करके आत्मतत्व में अपनी सत्ता का विसर्जन कर देते हैं, वह हृदय चिदाकाश रूप है। वह समस्त विश्वजगत् का हृदय है। वहीं ईश्वर निवास करता है। "ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशे" इस गीतोक्त श्लोक में सर्वभूतानां बहुवचन है, परन्तु हृद्देशे एकवचन है। अर्थात् सर्वजीव असंख्य हैं, बहुवचन हैं, परन्तु उनका हृदय एक ही है। अत: भौतिक हृदय में, Heart में, ईश्वर का वास नहीं है। वैसे तो वह कण-कण में व्याप्त है। परन्तु कण-कण में व्याप्त होने पर भी उसका विभाजन नहीं है। यदि ईश्वर टुकड़े-टुकड़े विभाजित है, तब वह खण्ड रूप है। ईश्वर खण्डित हो ही नहीं सकता। भौतिक हृदय उसका निवास स्थान कैसे हो सकता है, क्योंकि यह *Heart* प्रत्येक जीव का पृथक्-पृथक् है, खण्ड-रूप है, ईश्वर का मन्दिर खण्डित कैसे होगा? ईश्वर के समान उसका वासस्थान भी अखण्ड है, तभी गीता में हृदय का एकवचन प्रयोग है। वह हृदय अखण्डित तथा एक है।

जीव समूह असंख्य हैं, परन्तु उनका हृदय एक है। चिदाकाश रूपी महाशक्ति, महासत्ता, जगत् प्रसविनी मां ही परमेश्वर का हृदय है। हृदय के विषय में शास्त्र कहते हैं कि जहाँ से समस्त विषय निकल कर पुन: उसी में प्रविष्ट हो जाते हैं, वही हृदय है। इस भौतिक हृदय से न तो विषय समूह निर्गत होते हैं और न उसमें उनका विलीनीकरण ही होता है। यह वह हृदय नहीं है, जहाँ से विषयों का निर्गमन तथा विलीनीकरण होता है। महाशक्ति से ही विषय रूप जगत की सृष्टि तथा इन्द्रिय समूह का निर्गमन होता है। पुन: सब उसी में प्रविलीन हो जाते हैं। अत: वही हृदय है। परमपुरुष भगवान श्रीराम भी चिदाकाशरूपिणी भगवती सीता के

हृदय में निवास करते हैं। सीता उनका अपने हृदय में अवलोकन करती रहती हैं। रामनामकलामणि कोषमंजूषा में गोस्वामी तुलसीदास यही सत्य प्रदर्शित करते हैं :—

"देखि लखै सीता हिये राघव रेफ अनूप"

महाशक्ति केन्द्र परमेश्वर का वासस्थान है। यह अनादि, अगाध एवं अनन्त हैं, वैसे ही महाशक्ति भी अनन्तात्मिका ही हैं। महापथ के पथिक को इन महाशक्ति रूपी चिदाकाश का आश्रय लेना ही होगा। उस हृदय में परमेश्वर को खोजना ही होगा, अन्यथा पूर्ण प्रकाश प्राप्ति, आत्मप्राप्ति असम्भव है। जो इस महाशक्ति का आश्रय लिये विना परमतत्व का अन्यत्र अन्वेषण करता है, वह अनन्त काल पर्यन्त अज्ञानान्धकार से आवृत्त रहता है। गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं :—

तुलसी जो तजि सीय को विन्दु रेफ भये चाहु।
सो कुम्भी मंह कल्पसत जाहु-जाहु परिजाहु॥

समस्त ज्ञान का केन्द्रीयकरण महाशक्ति में ही होता है। इन्द्रिय ज्ञान, मनज्ञान, देहज्ञान, संस्कार ज्ञान आदि समस्त प्रकार के ज्ञान का केन्द्रीयकरण, विसर्जन अथवा समर्पण महाशक्ति के सम्मुख करना ही होगा। जब तक जीव इन सब के ज्ञान का भार वहन कर रहा है, तब तक वह उर्ध्वपथ पर चल ही नहीं सकता। भार वाहक को सृष्टि के नियमानुसार मध्याकर्षण पुनः निम्नस्तर में खींच लेता है। अतः सब कुछ का समर्पण महाशक्ति को करना ही होगा। यही स्वात्मसमर्पण है। यही है माँ के सम्मुख शिशुवत होना। ज्ञान के विसर्जन के अभाव में महाशक्ति के विज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। यह विसर्जन ही यथार्थ साधना है। तुलसीदास इसी सत्य का संकेत देते हुये कहते हैं :—

तुलसी मेटै रूप निज, विन्दु सीय को रूप,
देखि लखै सीता हिये राघव रेफ अनूप।

अपने को मिटा देना आवश्यक है। जगत् नाम रूपात्मक है। सर्वत्र एक न एक वस्तु का एक न एक रूप है, और साथ ही उसका नाम है। नाम के अभाव से युक्त रूप की सत्ता ही नहीं है और कोई भी वस्तु नामरहित नहीं है। यहाँ केवल रूप को मिटा देने का उपदेश दिया गया है। जीव के अस्तित्व में रूप क्या है? रूप है देह। वह देह में 'निज' रूपी अभिमान से युक्त है। देह को ही 'मैं' समझकर भ्रान्त है। इस देह में 'मैं' की भावना से ही इन्द्रिय ज्ञान, मनज्ञान, देहज्ञान, संस्कार ज्ञान आदि ज्ञान समूह का उदय होने लगता है। इस देह से "मैं" की भावना का अपोहन होते ही उपर्युक्त ज्ञान समूह विच्छिन्न हो जाते हैं। अब जीव में विन्दुरूपता का आधान हो जाता है। वह भारमुक्त है, विन्दु है, महाशक्ति के सम्मुख

शिशु है। अब उसे अपना रूप मिटा देने के अनन्तर सीता का रूप, मां महाशक्ति का रूप, प्रत्यक्ष हो उठता है।

इस विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि ईश्वर के राज्य में प्रवेशाधिकार के लिए शिशु होना आवश्यक है। शिशु अर्थात् निर्मल, निश्चल, पूर्वाग्रह रहित। उसे इस अनन्त वैचित्र्यमय संसार में एकमात्र माँ की ही आवश्यकता रहती है। उसका भ्रू निक्षेप कहीं भी नहीं रहता। एक अबोध, प्रकृत शिशु अवस्था की प्राप्ति द्वारा ही महाशक्ति का अविर्भाव हो सकता है। अतः प्रकृत शिशुभाव की प्राप्ति करनी ही होगी।

यह होना कैसे संभव है? देहात्मबोध का संस्कार कैसे समाप्त होगा? विज्ञ-जन कहते हैं कि महाशक्ति का संधान प्राप्त करने के लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं करना है। प्रयत्न करना है केवलमात्र इस बंधन का, सस्कार का उच्छेद करने के लिए। दर्पण मलिन है। उसे परिमार्जित करिये। परिमार्जित करने में ही श्रम है। मुखदर्शन तो अपने आप होता है। उसमें कोई भी श्रम नहीं है। अतः परिमार्जन तो कर्म सापेक्ष है। महाशक्ति की प्राप्ति कर्म साक्षेप नहीं है। उस अनन्तात्मिका को कर्म बन्धन में नहीं बाँधा जा सकता। उन्हें प्राप्त करने के लिये भावभरी पुकार आवश्यक है। भाव के बन्धन में महाशक्ति भी बँध जाती है।

परिमार्जनार्थ कर्मानुष्ठान करना ही होगा। संस्कार उच्छेदनार्थ कर्म प्रयोज्य है। कर्म करने पर अनेक विघ्न, प्राकृतिक प्रतिकूलता, इंद्रियों का आकर्षण, कर्म में त्रुटि आदि अन्तराय उपस्थित हो जाते हैं। इनके शमनार्थ सेवाधर्म का वरण करना होगा। कर्म तथा सेवा का सम्मिलन हो जाने से भाव का स्रोत उन्मुक्त हो जाता है। कर्म तथा सेवा का सम्यक् मिलन न होने के पहले जिस भाव का अनुभव होता है, सामान्य जन जिसे भाव कहते हैं, वह भाव तो क्या भाव का आभास मात्र भी नहीं है। भाव महाशक्ति का मिलनसूत्र है। इसकी परिणति होती है महाभाव रूप में।

इस प्रकार हम कर्म, सेवा तथा भावरूप त्रयी की उपलब्धि करते हैं। कर्म, सेवा तथा भाव का सम्यक् उपदेश देने के लिये तथा उनकी साधना के लिये ज्ञानगंज रूपी रहस्यभूमि का आविर्भाव हुआ है। ज्ञानगंज ज्ञानातीत भूमि है। महाशक्ति का संधान देने वाली आलोकरश्मि है। समस्त विश्व को सत्पथ का प्रदर्शन कराकर यहाँ अमरराज्य की स्थापना करना ज्ञानगंज का मुख्य उद्देश्य है।

सामान्यतः इस महान आदर्श की स्थापना एक असंभव उक्ति प्रतीत होती है। प्रश्न उठता है कि क्या ऐसा संभव है कि समग्र सृष्टि में मृत्यु का अवसान हो और अमर राज्य स्थापित हो सके? सुधीजन का अभिमत है कि सृष्टि में कुछ भी असंभव नहीं है। जो कभी असंभव प्रतीत होता है, जो एक देश तथा काल में असम्भावना है, वहीं अन्य देश काल में संभावना रूप में परिणत होने लगती है।

महाशक्ति के राज्य में अनन्त संभावनायें सन्निहित रहती हैं। अत: कुछ भी असंभव रूप है ही नहीं। जिनका महाशक्ति पर दृढ़ विश्वास है, वे उसी के अनुगत होकर कर्म, सेवा तथा भाव साधना द्वारा अखण्ड महायोग के अवतरण का उपक्रम ज्ञानगंज में स्थित होकर कर रहे हैं।

स्थूल ज्ञानगंज तिब्बत तथा हिमालय के सीमावर्ती स्थल पर है। अतिप्राकृत सूक्ष्म ज्ञानगंज की सत्ता जहाँ है, वहाँ की स्थिति देशकाल की सीमा से आबद्ध नहीं है। अति प्राकृत ज्ञानगंज चिदाकाशस्थ है। उसके आयतन के सम्बन्ध में भी कुछ नहीं कहा जा सकता। वह महाशक्ति के क्रोड़ में अवस्थित है। वह कालातीत है। महाकाल के राज्य में अवस्थान करता है। स्थूल ज्ञानगंज का सेवाकर्म, कर्म तथा भावकर्म सूक्ष्मीकृत होकर वहाँ एकत्रित हो रहा है। सूक्ष्म ज्ञानगंज में महाशक्ति साक्षात् कुमारी रूपा होकर विराजित रहती हैं। इससे अधिक कुछ कह सकना शक्य नहीं है। सूक्ष्म ज्ञानगंज ही अखण्ड महायोग अर्थात् सूर्य विज्ञान का प्रेरक है।

हम अवतारवाद को भारतीय संस्कृति का एक मूल तत्व मानते हैं। जो सत्ता देश कालातीत है, अव्यक्त है, वह जब इस कालराज्य में संचरण करती है, तब अवतार होता है। अव्यक्त सत्ता का जो रूप कालराज्य में अभिव्यक्त होता है, उसके साथ उसके धाम, परिकर आदि सब कुछ इस कालराज्य में आविर्भूत होते हैं। अवतार के समय अनन्त सत्ता ही आत्मसंकुचन प्रतीत कराती आविर्भूत होती है। यह संकोच होंने पर भी अवतार अनन्तता से ओतप्रोत रहता है। जागतिक दृष्टिभंगी के कारण अनन्त ही कालात्मक रूप से अवतीर्ण सा प्रतीत होने लगता है। इस आत्मसंकोच में भी उसकी अनन्तता की सुगन्ध इस धरातल पर, कालराज्य में फैलती जाती है। अवतार के तिरोधान के पश्चात् भी उसके उपदेश, लीलाकथा, स्मृति आदि के रूप में उसकी सत्ता कालराज्य में व्याप्त रहती है। प्रेमीजन उसका स्मरण करके ही आत्मतोष प्राप्त कर लेते हैं।

अखण्ड महायोग द्वारा जिस अमरराज्य की स्थापना का महास्वप्न देखा जा रहा है, वह अवतारवाद की स्थिति से सर्वथा विलक्षण है। अवतार व्यावहारिक दृष्टिकोण से सामयिक स्थिति है। अवतरण का तात्पर्य है अव्यक्त से व्यक्तीकरण। तिरोधान का तात्पर्य है व्यक्तीकरण से अव्यक्त में पुनरागमन। अत: अवतार भी काल की प्रेरणा से पुन: तिरोहित हो जाता है। इस धरातल पर काल तो अक्षुण्ण रह जाता है, परन्तु अवतार तिरोहित हो जाता है। अवतार में किसी प्रधानलक्ष्य हेतु सामूहिक प्रार्थना से अवतरण होता है। एक क्षेत्र विशेष से ही अवतार का सम्बंध रहता है। इसके अतिरिक्त अवतार को सभी तत्कालीन मनुष्य पहचान नहीं सकते। यहाँ तक कि उसके अत्यन्त सन्निकटवर्ती भी उसे मानव मान बैठते हैं। जो उसे पहचान पाता है, वही अवतार की कृपा से अभिसिंचित होता है। शेष उनकी कृपा से

अछूते रह जाते हैं। अज्ञानी अवतरित दैवी सत्ता को पहचान ही नहीं सकते। सभी धर्मों में यही परिलक्षित होता है। ईसामसीह को भी तत्कालीन बहुसंख्यक मनुष्य पहचान सकने में अक्षम थे। राम, कृष्ण, बुद्ध आदि अवतार भी समकालीन समाज में ईश्वरीय सत्ता, अवतार के रूप में सर्वजनमान्य नहीं हो सके थे। अतः सबको उनकी सत्ता से प्रकाशित हो सकने का सुअवसर नहीं मिल सका। बहुमत को उनके प्रति संदिग्ध ही पाया गया।

यह स्पष्ट है कि अवतार की धारा सार्वजनीन नहीं होती। इसी कारण अवतार से जगत् का आमूलचूल परिवर्त्तन नहीं होता। इसके लिये आवश्यक है कि उसकी अनन्तता का अनुभव प्रत्येक प्राणी को हो सके। अवतरण से मानव में एक ऐसा उन्मेष हो जिसे साधना की अपेक्षा न हो, नियम की प्रतिबद्धता न हो, अधिकारी अनधिकारी का निर्णय न हो। जो अवतरण सबको प्रकाशित कर सके, जो अहैतुक रूप से सब में जागरण ला सके। तभी परमसत्ता की अभूतपूर्व महाकरुणा का परिचय मिलेगा, अन्यथा उसकी महाकरुणा का वर्णन भी व्यर्थ श्रममात्र ही है। यह महाकरुणा सार्वजनीन होनी चाहिये, तभी परमसत्ता करुणा सम्पन्न है। यदि परमसत्ता सृष्टि के कण-कण को, अधिकारी-अनधिकारी को, सबको अपने रस से रसान्वित करे, अपना प्रकाश सर्वत्र प्रक्षेपित करे, तभी वह करूणावरूणालय है।

दुःख है कि आजतक ऐसा नहीं हो सका। अवतार हुये, महापुरुषों का आगमन हुआ, परन्तु ऐसी स्थिति नहीं आयी, जिससे सभी उस रस से रसान्वित हो सकें। यहां पात्रता, आधारगत योग्यता, पूर्वजन्मार्जित कर्म आदि का विचार एक प्रश्न चिन्ह सा खड़ा है। अनगिनत अजामिल और गणिकादिक आज भी उससे वंचित हैं!

एक प्राचीन उक्ति है "दि किंगडम आफ गाड शैल बी इस्टैबलिश आन दि अर्थ एस इन दि हीवेन" तत्वदर्शियों का यह कथन अक्षरशः सत्य है। अव्यक्त की कृपा से ज्ञानगंज में ऐसा महाप्रयोग चल रहा है। उस स्थिति का गठन हो रहा है। अभी उसका मृत्युराज्य में प्रक्षेपण होना शेष है। प्रक्षेपण होते ही वह स्थिति सम्पूर्ण सृष्टि में स्थायी होगी। क्रमशः कुछ भी नहीं होगा। जो कुछ घटित होना है क्षणमात्र में होगा। क्रम तो काल में भासित होता है। जब काल की कलना को अनन्त आत्मसात कर लेंगे, तब क्रम की सत्ता का प्रश्न ही नहीं उठेगा!

दार्शनिक कहते हैं कि परमतत्व के क्षणमात्र में यह जगत् भूत भविष्य वर्तमानात्मक रूप से उद्भासित होने लगता है। काल तो बुद्धि में क्रम आरोपण वशात् त्रिकालरूप हो जाता है। वास्तव में यह अनादि काल से भासित हो रहा है। त्रिकाल है ही नहीं, मात्र एक क्षण है। उसी एक क्षण में यह विश्वपरिणाम भासित होता रहता है।

जो परिवर्तन आने वाला है, उसमें कालजनित प्रश्न हो ही नहीं सकता। क्योंकि ज्ञानगंज की दृष्टि में सृष्टि के आदि से आज तक सब कुछ एक क्षण ही है। करोड़ों अरबों वर्ष का आभास बुद्धिजनित है। अतः इस परिवर्तन का काल कब होगा, यह प्रश्न ही मूर्खता का, अज्ञान का परिचायक है। यह अभी भी हो सकता है, करोड़ों वर्ष पश्चात् भी हो सकता है, अथवा अभी हो रहा हो। बुद्धि से क्रम की समाप्ति के अनन्तर इस जिज्ञासा का समाधान सम्भव है।

अत: जो परिवर्त्तन होना है, जो अमरराज्य स्थापित होना है, उसमें किसी देव-देवी, महान् आत्मा अथवा सोलह, बत्तीस कलायुक्त कोई अवतार नहीं आयेगा। अवतीर्ण होगा 'क्षण'। यह ज्ञानगंज की अपूर्व उपलब्धि है। क्षण का ज्ञान प्रक्रिया-से नहीं हो सकता। आजतक परमसत्ता भी क्षणावतरण नहीं करा सकी, क्योंकि सृष्टि में क्षणधारण का सामर्थ्य नहीं था। युग-युगान्तर से सृष्टिगत प्राणियो की वेदना, आर्ति, दुख का संवेग, अनन्त आकाश में एकत्रित होता रहा है। यह आर्त्तना अभी तक एक केन्द्र में एकत्रित नहीं हो सकी थी। अचिन्त्य कारण से; कर्म, सेवा एवं भाव की त्रयी से तथा ज्ञानगंज की विज्ञान साधना से प्राणियों की वेदना, चेतन वर्ग की आर्त्तना, दु:ख तप्तता एक केन्द्र पर एकत्रित होने लगी है। इसी से माँ का आविर्भाव होगा। यह आदि माँ हैं। इसके सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि वे माँ हैं सर्वजीव की, समग्र सृष्टि की, सबकी माँ हैं। इनको कृपा से ही क्षणावतरण संम्भव है। संक्षेप में यही कहना उचित है।

इस प्रसंग में जिन गुप्त आश्रमो का विवरण झंकित किया गया है, वैसे ही आश्रमों की स्थिति का वर्णन प्राचीन ग्रंथों में भी प्राप्त होता है। वाल्मीकीय रामायण के अध्ययन से यह विदित होता है कि उस समय भी ऐसे आश्रम अवस्थित थे। इस महाग्रंथ के किष्किन्धाकाण्ड के अनुसार सीता की खोज करते हुये वानरगण ऐसे ही एक अलौकिक स्थान पर पहुँचे थे। सीतान्वेपण करते-करते वे एक गुफा के पास आये जिसका मुख खुला हुआ था। उक्त है—

दुर्गमृक्षबिलं नाम दानवेनाभिरक्षितम्।
क्षुत्पिपासापरीतास्तु श्रान्तास्तु सलिलार्थिन :॥

(वाल्मीकीयरामायण, किष्किन्धाकाण्ड)

इसमें प्रवेश करना दुष्कर था। इसका नाम था ऋक्षबिल। (मंत्रशक्ति द्वारा नियोजित) एक दानव इसकी रक्षा कर रहा था। यह गुफा अत्यन्त भयानक थी। रोंगटे खड़ा कर देने वाली थी। एक योजन पर्यन्त घोर अन्धकार में एक दूसरे का हाथ पकड़े हुये वानरगण चलते जा रहे थे। एक योजन के अनन्तर उन्हे प्रकाश परिलक्षित होने लगा। वहाँ के लता, वृक्ष, भवन आदि सभी सुवर्ण के वर्ण के थे।

यहाँ तक कि जलाशय के मत्स्य आदि भी स्वर्णिम आभा से युक्त थे। वहाँ एक तपस्विनी भी परिलक्षित हुई जो नियमित आहार करती हुई तपस्या कर रही थी। श्री हनुमान की परिपृच्छा पर उस तपस्विनी ने कहा कि मयदानव ने एक सहस्त्रवर्ष तपस्या के द्वारा स्वयंम्भु ब्रह्मा के वरदान के रूप में इस स्थान का निर्माण किया है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे सुखावती बुद्ध की तपस्या से, ध्रुवलोक कुमार ध्रुव की तपश्चर्या से गठित हो सका था, उसी प्रकार यह ऋक्षबिल स्थान मयदानव की तपस्या से गठित था। यह तपस्विनी भी अपने तप:तेज से इस स्थान की संरक्षा कर रही थी। यही स्वयंम्प्रभा नामक तपस्विनी इस स्थान की अधिष्ठात्री थी। इस स्थान को सामान्य दृष्टि से देख पाना भी संभव नहीं था :—

"कथं चेदं वनं दुर्गं युष्माभिरुपलक्षितम्"

जैसे राजराजेश्वरी स्थान, ज्ञानगंज आदि को सामान्य दृष्टि से लक्ष्य नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार यह ऋक्षबिल भी अलक्षित स्थान है।

इस स्थान में प्रवेश के अनन्तर जीवित रहते पुन: बाह्यजगत में जा सकना असंभव सा है। केवल वहाँ के सिद्ध ही अपनी तपस्या के बल द्वारा समागत व्यक्ति को बाहर कर सकते हैं। अतएव स्वयम्प्रभा ने अपनी तपस्या का प्रयोग करके वानरादि को उस स्थान से बाहर निकाला। सर्वप्रथम वानरों को अपने नेत्रों को बंद करना पड़ा। उस अवस्था में कुछ क्षण के उपरान्त वे वानर स्वयं को उस रहस्यमय स्थान से बाहर समुद्रतट के निकट पाते हैं।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि इस गुफा में प्रवेश करते समय वानरगण समुद्र-तट के पास नहीं थे। वे विन्ध्यपर्वत के नैर्ऋत्यकोण को खोजते-खोजते दक्षिणदिशा की पर्वतमालाओं तक पहुँचे थे। परन्तु जब वे बाहर निकले, तब वे स्वयं को महा-सागर के सम्मुखीन प्रस्त्रवण गिरि के पास पाते हैं। यही विस्मय केदार मालेकर के साथ वाराणसी मे घटित हुआ था। वह वाराणसी में स्थित एक गुप्त आश्रम में सर्वदा विशेश्वरगंज से होकर प्रवेश करता, परन्तु लौटते समय स्वयं को कभी वाराणसी के उत्तर, कभी दक्षिण तो कभी पूर्व अथवा पश्चिम में पाता। इसका तात्पर्य यह है कि इस प्रकार की सिद्धभूमियों का कोई निश्चित स्थान संकेतित नहीं किया जा सकता। सिद्धभूमि का प्रकाशन कहीं भी हो सकता है।

यथार्थ सिद्धभूमि की सत्ता देशकालातीत होती है। यह भी वाल्मीकीय रामा-यण के प्रकरण से प्रत्यक्ष हो जाता है। सिद्धभूमि में सामान्य कलनात्मक काल स्थिर हो जाता है। अत: वहाँ की पुष्पमाला, वातावरण प्रभृति पर काल प्रभाव नहीं पड़ सकता। वहाँ मात्र महाकाल की सत्ता प्रभावकारी रहती है। मतंगाश्रम में श्रीराम ने इसी सत्य का साक्षात्कार किया था। इस मतंगाश्रम में शबरी विराजमान थीं। यह आश्रम पम्पा सरोवर के पश्चिम स्थित है तथा अत्यन्त गुप्त है।

उक्त है—

ततस्तद्राम पम्पायास्तीरमाश्रित्य पश्चिमम् ।
आश्रमस्थानमतुलं गुह्यं काकुत्स्थ पश्यसि ।। (वाल्मीकीय रामायण, किष्किन्धा)

इस आश्रम पर मत्त गजराज प्रभृति वन्यजीव भी आक्रमण नहीं करते । इसके स्थान प्रभाव से यहाँ सोता हुआ व्यक्ति जो स्वप्न देखता है, जाग्रत हो जाने पर वही सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है । विषम मन:स्थिति वाले को यहाँ के रक्षक उठाकर प्रहार करते हुए भगा देते हैं :—

शयान: पुरुषो राम तस्य शैलस्य मूर्धनि ।
यत् स्वप्नं लभते वित्तं तत् प्रबुद्धोऽधिगच्छति ।।
यस्त्वेनं विषमाचार: पापकर्माधिरोहति ।
तत्रैव प्रहरन्त्येनं सुप्तमादाय राक्षसा ।। (वही)

श्रीराम मतंगाश्रम में सिद्धतपस्विनी शबरी को देखते हैं । इस आश्रम में बहुसंख्यक सिद्ध तपस्यारत थे, जो राम के वनागमन के समय (चित्रकूट निवास काल में) अर्थात् इस समय से दस वर्ष पूर्व उच्चस्तरीय आयाम (उर्ध्वलोकों में) में चले जा चुके थे । श्रीराम को शबरी यह प्रदर्शित करती हैं कि उस समय (करीब दस वर्ष पूर्व) उन ऋषियों ने स्नान करने के अनन्तर जो वस्त्र सूखने के लिये फैला कर छोड़े थे, वे अभी तक उसी प्रकार गीले हैं और कमलों की जो माला उन सिद्धों ने छोड़ दी थी वे अभी तक अम्लान हैं । मुरझाई नहीं हैं । (द्रष्टव्य किष्किधाकाण्ड, वाल्मीकीय रामायण) ।

इस विवरण से स्पष्ट है कि जिस क्षण में उन सिद्धों ने उर्ध्वलोकों में गमन किया था, वह क्षण वहाँ स्थायी हो गया । क्षण का क्रम ही काल है । जब क्षण में क्रम भासित होता है, तब उसमें काल प्रभाव हो जाता है । क्षण का क्रमभंग हो जाने पर वह क्षण स्थायी हो जाता है । उस पर काल का प्रभाव नहीं रह जाता । अत: सिद्धभूमि में काल प्रभाव का अभाव प्राचीन आख्यानों से भी स्पष्ट हो जाता है ।

सिद्धाश्रम तथा सिद्धभूमि के साथ एक विचित्रता है । इस प्रकार के आश्रम अथवा भूमि सूक्ष्मसत्ता में अवस्थित रहते हैं । ये उपयुक्त द्रष्टा के सम्मुख व्यक्त हो जाते हैं । कार्य अथवा प्रयोजन समाप्त होते ही इनकी व्यक्त सत्ता (स्थूल अवस्था) पुन: अव्यक्त (सूक्ष्मसत्ता) में प्रविलीन हो जाती है । महाभारत के वनपर्व में भी ऐसा ही वर्णन प्राप्त होता है । दमयन्ती राजा नल को खोजती हुई वन में चली जा रही थी । अनेक संकट तथा बाधाओं का सामना करते हुये तीसरे दिन उसे वन में एक सुन्दर तपोवन परिलक्षित होता है । दमयन्ती ने देखा कि उसमें संयमी मित-

भोजी पवित्र ऋषिगण का समूह विराजमान है। उन महात्माओं ने वल्कल तथा मृगछाला धारण कर रक्खा था। ऋषियों ने दमयन्ती को सान्त्वना तथा साहस प्रदान करते हुये अपनी तप:सिद्ध दृष्टि से भविष्य का आभास देते हुये कहा कि शीघ्र ही महाराजा नल निषध देश पर पुनः राज्य करेंगे और नल के साथ उसका पुनर्मिलन होगा। इस प्रकार कहने के पश्चात् वे ऋषिगण अपने आश्रम के साथ अन्तर्हित् हो गये। इस आश्चर्य घटना से दमयन्ती विस्मित हो गयीं। वे सोचने लगी कि यह कैसी घटना हो गयी? वे तपस्वी, आश्रम, नदी, फल-फूलों से भरे वृक्ष कहाँ चले गये?

महाभारत के अनुसार पाण्डवों ने भी अपने हिमालय प्रवासकाल में महर्षि लोमश तथा धौम्य के साथ अनेक गुप्त आश्रम तथा सिद्धभूमि समूह का दर्शन प्राप्त किया था और उनसे सम्बन्धित अलौकिक घटना समूह को भी देखा। इसी प्रकार महाभारत में वर्णित कण्वाश्रम मालिनी नदी के तट पर स्थित कहा जाता है। यहीं विशाल वटदादा का जंगल भी है। इस अंचल से लेकर चण्डीपर्वत पर्यन्त जो पर्वत-माला चली गयी है, वहीं पर कतिपय साधकों को कण्वाश्रम तथा महाभारतकालीन द्रोणपुत्र अश्वत्थामा का दर्शन होता है। अश्वत्थामा को करीव तीन सहस्त्र वर्षो के ही लिये श्राप दिया गया था। वह अवधि १५०० वर्ष पूर्व समाप्त हो गयी है। अत: अश्वत्थामा का दिव्य दर्शन प्राप्त करके कतिपय साधक उपकृत हो चुके हैं। कैलाश पर्वत के निकट मणिमंत प्रदेश को भी सिद्धों की गुप्त स्थली कहा गया है। वर्त्तमान में इसे माणा शिखर कहते हैं, जो वद्रीनाथ के पास अवस्थित है।

भौगोलिक दृष्टि से गंधमादन एवं माणा को अलकनंदा के पश्चिम तट पर तथा नदादेवी को अलकनन्दा के पूर्व तट पर स्थित मानते हैं। अलकनन्दा के उभय पार्श्व को सिद्धों की विचरण स्थली के रूप में माना जाता है। कालिदास ने मंदाकिनी के पार्श्व मे स्थित उपत्यका श्रेणी को गौरी का पिता (पार्वती का पिता) कहा है। यह क्षेत्र भी अत्यन्त रहस्यमय प्रदेश है। श्री शंकराचार्य, गोरक्षनाथ, माधवाचार्य, गोस्वामी तुलसीदास, स्वामी रामतीर्थ आदि को इस क्षेत्र में अलौकिक दर्शन प्राप्त हो चुका है। यमुनोत्तरी पर आज भी कुछ महात्मा रहते हैं और शीत-ऋतु के भीषणकाल में भी वहाँ का स्थान नहीं छोड़ते। ऐसे ही एक महात्मा ने मुझे वतलाया था कि दीपावली के पश्चात् से लेकर मकरसंक्रान्ति पर्यन्त यहाँ भीषण हिमपात होता है ओर भोज्य सामग्री नहीं मिलती। इस अवस्था में उन्हे यक्ष लोग कभी-कभी आकर सप्ताहपर्यन्त की भोज्य सामग्री (कंदमूल) दे जाते हैं। इसमें स्वाद तथा पौष्टिकता की कोई कमी नहीं रह जाती। मुझे ऐसा विशाल कंद देखने का अवसर गरुड़चट्टी के आगे वाले वदरीनाथ पैदलमार्ग पर प्राप्त हुआ था।

जैसे उत्तर भारत के हिमालय अंचल में सिद्धाश्रमों की स्थिति कही गयी है, दक्षिण भारतस्थ पर्वत मालाओं में भी सिद्ध महर्षियों के गुप्त आश्रमों का वर्णन प्राप्त होता है। रमणमहर्षि ऐसे ही एक गुप्त आश्रम से सम्बद्ध थे। दक्षिण भारत के श्री शैलपर्वत तथा नीलगिरि पर्वत मालाओं में तथा पश्चिम भारत के गिरनार पर्वत में भी सिद्धों के गुप्त स्थान विद्यमान हैं। पंचवटी के पास (नासिक में) बंगाली अजपासिद्ध जनार्दन स्वामी ने ४९ दिन पर्यन्त निराहार रहकर ऐसे ही एक स्थान का संधान प्राप्त किया है। इन स्वामीजी के श्रीमुख से मैंने स्वयं यह उपाख्यान विस्तार से सुना है। इनके गुरु स्वामी भूमानन्द तथा परमगुरु स्वामी पूर्णानन्द जी ने हिमालय के गुप्त स्थल 'सिद्धाश्रम' में जाने का सौभाग्य प्राप्त किया था।

सिद्धों का कथन है कि गंगाद्वार से कैलाश पर्यन्त का क्षेत्र सिद्ध मण्डल है। इसी प्रकार यमुनोत्तरी से लेकर नन्दादेवी तक का क्षेत्र सिद्ध क्षेत्र है। इसमें आज भी सिद्ध एवं विद्याधर विचरण करते रहते हैं। इसी प्रकार श्रीशैल पर्वत, नन्दादेवी और बिहार के गृद्धकूट पर्वत क्षेत्र में प्रत्यक् बुद्ध नामक बौद्ध सिद्ध विचरण करते रहते हैं। गृद्धकूट पर्वत पर महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ जी की कृपा से एक अलौकिक प्रत्यक्ष का अवसर प्राप्त हो सका था। उस समय वे वहीं विराजित थे और प्रज्ञापारमिता का तत्त्वोपदेश दे रहे थे। इस चर्चा में कई घण्टे व्यतीत हो जाने पर भी समय का आभास नहीं हो सका। हठात् कविराज जी के नेत्र ऊपर शून्य में निबद्ध हो गये और वे हाथ जोड़कर मुख से अस्पष्ट स्वर में कुछ प्रार्थना करने लगे। जब हम लोगों ने उस दिशा की ओर घूमकर देखा, वहाँ एक तेजोमण्डल परिलक्षित हुआ। मण्डल के मध्य का स्थान खाली था। वह मण्डल पृथ्वी से करीब ८ फीट ऊपर बना था। अस्ताचलगामी सूर्य की शान्त किरणों की पृष्ठभूमि में वह एक नवोदित सूर्य के समान दृष्टिगोचर हो रहा था। कविराज जी को उस मण्डल की ओर नतशिर देखकर हमलोग भी उस तेजोमण्डल की ओर हाथ जोड़कर सचेत बैठे रहे। कुछ मिनटों के उपरान्त वह तेजोमण्डल अन्तर्हित हो गया। बाद में ज्ञात हो सका कि वह किसी बुद्धमार्गी सिद्ध के आविर्भाव का सूचक था। इस तेजोमण्डल के मध्य की आकृति हमारी स्थूलदर्शी आखें नहीं देख सकीं। केवल उच्चस्तरीय साधक ही उसे देख सकने में सक्षम हो सकते हैं। गृद्धकूट पर्वत अत्यन्त पवित्र स्थल है, इसी कारण हम सब उस तेजोमण्डल को देख सके थे, अन्यथा उसे देख सकना भी सम्भव नहीं हो सकता था। कविराज जी की सूक्ष्मदर्शी दृष्टि ने उनका अवलोकन भी किया था और इस कुछ मिनट के आविर्भाव काल में उनकी उन आविर्भूत सिद्ध से वार्ता भी हो सकी थी।

दक्षिण भारत में सिद्धों की विहरणस्थली के रूप में अरुणाचल पर्वत की भी प्रसिद्धि है। दक्षिणामूर्ति का ही एक तेजोमय रूप है अरुणाचल। रमणमहर्षि कहते

हैं कि युगयुगान्तर से यहाँ की कन्दराओं में युगजीवी सिद्धगण रहते चले आये हैं। आज भी उनकी सूक्ष्मसत्ता यहां अवस्थित है। किंवदन्ती है कि कार्तिकमास के उत्सव में साक्षात् सदाशिव यहाँ उपस्थित रहते हैं। एक बार एक पंगु व्यक्ति अनेक कष्ट के साथ इस महान् तीर्थ की परिक्रमा कर रहा था। उसने निश्चय कर लिया था कि अब वापस लौटकर नहीं जाना है। परिक्रमा करते-करते एक तेजपुंज ब्राह्मण को देखा। ब्राह्मण इस लगड़ें से बोले "तुम अपनी वैसाखी फेक दो। अब इसका कोई प्रयोजन नहीं है। आज अरुणाचल की कृपा से तुम्हारा रोग दूर हो गया। तुमने दैहिक विकलता से मुक्ति पा लिया।" यह सुनकर वह पंगु व्यक्ति देखता है कि उसके दोनों पैर ठीक हो गये। सामने देखने पर उस ब्राह्मण का कहीं भी सन्धान नहीं मिला।

रमणमहर्षि इस घटना का उल्लेख करते हुये कहते हैं कि यह तेजपुंज ब्राह्मण अरुणाचल के अधिष्ठाता अरुणगिरि योगी थे। एक दिव्य वटवृक्ष के नीचे यह सूक्ष्म-शरीरधारी (दिव्यदेहधारी) योगी दीर्घकाल से ध्यानस्थ बैठे हैं। भाग्यशाली साधक इनकी कृपा होने पर इस दिव्य वटवृक्ष तथा इन योगी का दर्शन प्राप्त कर लेते हैं। इनकी मौन दीक्षा द्वारा रमणमहर्षि भी कृतार्थ हो सके थे। यह घटना १९०६ ई० की है। एक दिन रमणमहर्षि पर्वत पर चक्रमण कर रहे थे। हठात् देखते हैं कि वट-वृक्ष का एक विशाल पत्ता मार्ग में पड़ा है। महर्षि विस्मित हो उठे। अरुणाचल में वटवृक्ष का तो सर्वथा अभाव है। यह पत्ता कहां से आ गया? अत्यन्त कौतूहल के कारण रमणमहर्षि आगे बढ़े। पथ दुर्गम तथा प्रस्तराकीर्ण था। कुछ आगे जाकर देखते हैं कि सामने एक विशाल वटवृक्ष है। कठोर पत्थरों की शिलाओं के बीच यह वटवृक्ष उगा हुआ है। यह क्या रहस्य है?

अब इस वटवृक्ष की ओर महर्षि बढ़ते जाते हैं। पास आने में एक बाधा आ जाती है। एक भौरा उन्हें काट लेता है। साथ ही अनेक भौरे पत्थर के बीच से आ निकले। महर्षि को विवश होकर वापस लौटना पड़ा। उन्होंने सोचा कि इस अलौकिक वटवृक्ष का सान्निध्य होने देना अरुणाचलेश्वर को अभिप्रेत नहीं था। वापस लौटकर महर्षि इस वटवृक्ष की अद्‌भुत स्थिति को शिष्यों को बतलाते हैं। आश्रमवासी शिष्य उसके सन्धान में जाकर भी, उसका अस्तित्व कहीं नहीं पाते। जैसे वह वटवृक्ष युक्त सिद्धभूमि आविर्भूत हुई थी, वैसे ही अन्तर्हित हो गयी!

महाप्रभु विजयकृष्ण गोस्वामी महाराज के गुरु स्वामी ब्रह्मानन्द जी मानस सरोवर के पास मानतलाव नामक गुप्त आश्रम में रहते थे। इनकी ख्याति परमहंस जी के नाम अधिक थी। इनका कथन था कि भौगोलिक मानसरोवर यथार्थ मानसरोवर नहीं है। उस मानसरोवर का दर्शन सद्‌गुरु योगी की कृपा के बिना नहीं हो सकता। यथार्थ मानसरोवर सिद्धक्षेत्र है। यहाँ किन्नर, गन्धर्व तथा सिद्धों का

निवास है। यह दिव्यभूमि है। महर्षि लोमश की कृपा से पाण्डव यहाँ का दर्शन प्राप्त कर सके थे। परमहंस जी को मानतालाब के सिद्धों की कृपा से परकाया प्रवेश की अलौकिक विधि ज्ञात थी।

महायोगी त्रिपुरलिंग भी एक गुप्त स्थल पर जा पहुँचे थे। वह स्थान आसाम का जयन्तिया पर्वत है। पर्वतांञ्चल के गहन वन में उन्हें एक मंदिर दृष्टिगोचर हुआ। उन्होंने इसी में रात्रि व्यतीत करना चाहा। अर्धरात्रि में सम्पूर्ण वन प्रान्तर एक गम्भीर निस्तब्धता से व्याप्त हो उठा। उस समय योगी त्रिपुरलिंग शिवाराधन तल्लीन थे। कुछ काल के उपरान्त ध्यान से व्युत्थित होने पर देखते हैं कि गर्भगृह एक दिव्य ज्योति से उद्भासित है। एक जटाजूट समन्वित तेजोद्दीप्त महापुरुष उनके सम्मुख खड़े है। वे योगी त्रिपुरलिंग को अनेक प्रकार से साधनोपदेश देने के अनन्तर अन्तर्हित हो गये। उसी के साथ-साथ योगी त्रिपुरलिंग देखते है कि वहाँ न मंदिर है और न उन महापुरुष का ही कोई अस्तित्व है। प्रतीत हुआ कि वे सिद्ध महापुरुष सिद्धभूमि के साथ आविर्भूत हुये थे और कार्य समाप्त होते के अनन्तर अन्तर्हित हो गये। उनके साथ-साथ सिद्धभूमि रूप वह मन्दिर भी सूक्ष्मसत्तान्तर्गत समाहित हो चुका था।

वंगाल के प्रख्यात् लेखक प्रमोदकुमार चट्टोपाध्याय को भी प्रयाग क्षेत्र में झूंसी के पास ऐसी ही एक सिद्धगुफा का दर्शन प्राप्त हुआ था। इसका विवरण उन्होंने स्वलिखित ग्रंथ "अवधूत ओ योगिसंग" में (वंगभाषा में) अंकित किया है। वे एक परिव्राजक साधु के साथ झूंसी पहुँचे। वहाँ किले के पास देखते हैं कि भूमि के नीचे अनेक गुफायें बनी है। उपर कमरे हैं। दालान से इनका मार्ग है। आठ-दस सिढ़ियाँ उतरते ही एक गली जैसा संकीर्ण मार्ग मिलता है। उसी के दोनों ओर गुहारूपी भूगर्मस्थ प्रकोष्ठ बने हैं। ऐसी ही एक गुहा में एक दीप प्रज्वलित है। उस दीपक के प्रकाश में इन लोगों को एक साधु का दर्शन प्राप्त हुआ। वे मृगचर्म पर आसीन थे। उनका नाम था बाबा कल्पनाथ। उनकी आँखें तेजोद्दीप्त थी। जब इन लोगों ने उन्हें प्रणाम किया, तब बाबा आशीर्वादात्मक मुद्रा में बोले "जाओ। बाहर देखो। सब कुछ देख कर तब आना"। बाबा का आदेश पालन करते हुये इन्हें विवश होकर वहाँ से उठ जाना पड़ा। ये दोनों हताश होकर आगे बढ़े। वहाँ भी एक सुन्दरवर्ण साधु बैठे हुये थे। उनकी देह चन्दन चर्चित थी। उन्होंने इन दोनों आगन्तुक को देखते ही बैठने के लिये कहा और वहीं पर भोजन करने का आदेश दिया। प्रमोद बाबू साधु के इस आह्वान से विस्मयाभिभूत हो उठे। उन्हें उस समय क्षुधा का अनुभव हो रहा था। उस निर्जन गुहा में साधु ने घृतसिक्त रोटी, साग, अचार, दही और मालपुआ प्रस्तुत किया। सभी वस्तु ताजी तथा गर्म थी। ऐसा उस गुफा में कैसे सम्भव हो सका ? वहाँ कुछ विश्राम करने के पश्चात् प्रमोद बाबू

अपने साथी के साथ पुनः कल्पनाथ बाबा वाली गुफा में गये। इस बार कल्पनाथ बाबा ने इन दोनों को वहीं बैठाया। कुशल क्षेम के उपरान्त बाबा कल्पनाथ हठात् उठ कर खड़े हो गये। प्रतीत हुआ कि खड़े-खड़े ही कहीं खो गये हों। कुछ समय पश्चात् वे पुनः आसानासीन हो गये। प्रमोद बाबू के साथी ने बाबा से अचानक खड़े होने का कारण जानना चाहा। बाबा निश्वास पूर्ण शब्दों में कहने लगे "हाय-हाय परमात्मा का क्या खेल है? क्या समझूँ और क्या समझाऊं? रेल लाइन में एक मरद ऐसा गिरा कि दोनों चक्के से काटा गया और इंजन भी पटरी से उतर-गया, जाओ देखो।"

प्रमोद बाबू और उनके साथी अवाक थे। इस भूगर्भस्थ गुहा रूपी प्रकोष्ठ में बैठकर यह क्या कह रहे है? बाबा के द्वारा पुनः कहने पर वे दोनों उस स्थान से निकलकर बाहर आये। बाहर आकर वे दोनों आगे बढ़े। देखते है कि लोगों की भीड़ सामने की ओर भागी चली जा रही है। वे भी उस जनसमूह के साथ आगे बढ़ने लगे। कुछ दूर आगे रेल लाइन के पास भारी भीड़ एकत्र थी। वहाँ एक व्यक्ति का कटा हुआ रक्तरंजित शव पड़ा था। पास में ही पटरी से उतरा इंजन भी दृक्-गोचर हो रहा था। इन लोगों ने विचार किया कि अब घटनास्थल के समीप जाने से क्या लाभ? अतः दोनों ही अब पुनः बाबा कल्पनाथ के पास जाने को उद्यत हो गये। वे झूंसी के उस स्थान में मिट्टी के टीले की ओर बढ़े, जहाँ से उस गुफामार्ग का संधान मिला था। चारो ओर घूम फिर कर अनेक अन्वेषण द्वारा भी वह स्थान नहीं मिल सका जहाँ बाबा कल्पनाथ की गुफा थी! अन्त में हताश होकर निकटस्थ बस्ती के पास बाबा कल्पनाथ के सम्बन्ध में पूछताछ करने से इन लोगों को विदित हुआ कि यहाँ बाबा कल्पनाथ और उस गुफा आश्रम को कोई भी नहीं जानता!

ज्ञानगंज की स्थिति पर इस पुस्तक द्वारा किंचित प्रकाश प्रक्षेपण ही हो सका है। इस विषय की सम्यक् पर्यालोचना के लिये जिस सामग्री की आवश्यकता थी, वह यद्यपि उपलब्ध है, तथापि उसका शब्दांकन करते समय अनेक स्थल पर प्रश्न-चिन्ह उपस्थित हो जाते हैं। व्यावहारिक जगत् में सब कुछ काल सापेक्ष है। अध्यवसाय के साथ पूर्वाग्रह छोड़कर शुद्ध प्रयत्न करने पर यथा समय सभी प्रश्नों का समाधान अन्तर्जगत् से प्राप्त हो सकता है।

नववर्ष दिवस, १९९२ ई०

B. 31/32 लंका, वाराणसी— एस. एन. खण्डेलवाल

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

इस पुस्तक में अंकित घटनाक्रम योगीगण तथा विज्ञजन के विवरणों पर आधारित हैं। उनका कोई दायित्व शब्दांकनकार का नहीं है।

सिद्धभूमि ज्ञानगंज

ज्ञानगंज की स्थिति पर प्रकाश प्रक्षेपण के पूर्व यह इंगित करना आवश्यक प्रतीत होता है कि वास्तविक ज्ञानगंज में सब कुछ की संरचना प्रकाश रूप से परिलक्षित होती है अर्थात् वहां भूमि (पृथ्वीतत्व) का अस्तित्व ही नहीं है। पृथ्वीतत्व का यह प्राकृतिक रूप वहाँ दृष्टिगोचर नहीं होता। एक स्फटिक सन्निभ स्निग्ध प्रकाश ही वहाँ की आधारभूत सत्ता है। वह प्रकाश रूप आधारसत्ता ही चैतन्य पृथ्वी तत्व है, जिसे यथार्थ धरित्री कह सकते हैं। इस जगत का पृथ्वीतत्व जड़ रूप है परन्तु ज्ञानगंज की आधारभूता पृथ्वी चैतन्य से ओतप्रोत होने के कारण जड़ पृथ्वी नहीं है। वह पृथ्वी रूप जड़ पदार्थ का आधार चैतन्यमय सत्तारूप है जिसे यथार्थतः पृथ्वीदेवी (पृथ्वी का अन्तराभिमानी देवतातत्व) ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार वहाँ पंचमहाभूत जड़ रूप में कदापि विराजित नहीं हैं। वह शून्य से भी परे महाशून्य के अन्तराल में प्रकाशित चैतन्याधिष्ठित अत्यन्त रहस्यमय जगत है। उक्त है :

"तत्स्थानं कोटिब्रह्माण्ड--महाशून्यम् विलक्षणम्।
मानं तस्यापि किमपि विद्यते नैव शाम्भवी ॥
तत्र भूमिं स्वप्रकाशामाकाशञ्च तथा विधम्।
जलं तथाविधं विद्धि तेजश्चैव तथा विधम् ॥

ज्ञानगंज के भी स्तर भेद हैं। जो व्यवहारिक ज्ञानगंज है, वह सिद्धपुरुषों का चिरविदित स्थान है। पारमार्थिक ज्ञानगंज की यथार्थ उपलब्धि इस जगत् में महायोगी विशुद्धानन्द परमहंसदेव प्राप्त कर सके थे। किम्बहुना यह कहा जा सकता है कि सुदूरवर्त्ती तिब्बत में, उस पार जो ज्ञानगंज अवस्थित है, वहाँ भी जाना सबके लिये संभव नहीं है। जो महाभाग्यशाली साधक आश्रमवासियों की कृपा प्राप्त कर सके हैं, केवलमात्र वे ही उस सिद्धभूमि में जा सकते हैं। यहां तक कि अन्य लोग वहां का सन्धान भी नहीं प्राप्त कर सकते।

तिब्बत में सत्य ज्ञानाश्रम तथा ज्ञानमठ का भी अस्तित्व है। यह भी ज्ञानगंज का एक वाह्यस्तर सा है। यह मठ भी हिमालय सीमा में स्थित कहा जाता है। इस मठ से कुछ आगे चिरतुषार मंडित प्रदेश परिव्याप्त है। इस मठ में जैसा ज्ञान प्राप्त होता है उसकी तुलना में अन्य कोई स्थान नहीं है। यह किंवदन्ती है कि राजा विक्रमादित्य के राजत्वकाल में सिद्धपुरी, आमपुरी तथा ज्ञानपुरी नामक तीन पर्यटक ब्रह्मदेश पर्यन्त अवस्थान करने के अनन्तर इस गुप्त स्थान में आकर स्थायी

रूप से वास करने लगे थे। यहां योग, अमृतसिद्धि विषयक तत्व के सम्बन्ध में ज्ञानार्जन किया जाता था।

जिस प्रकार से महायोगी विशुद्धानन्द ने ज्ञानगंज का वर्णन किया है, उसी प्रकार रामठाकुर महाशय कौशिकी आश्रम के सम्बन्ध में मत प्रकाशन कर गये हैं। अत: सिद्धभूमियां अनन्त हैं। यह शास्त्रपाठ से ज्ञात हो जाता है। कतिपय सिद्ध-पुरुषों ने अपने जीवन में भी इस सम्बन्ध नें प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किया है। यह कहा जाता है कि ज्ञानगंज हमारी पृथ्वी से सम्बन्धित एक स्थान विशेष है, तथापि यह इतना गुप्त है कि विशिष्ट शक्ति का विकास होने पर तथा यहां के अधिष्ठाता की अनुज्ञा प्राप्त होने पर ही यह दृष्टिगोचर हो सकता है। सिद्धभूमियों की यही विशिष्टता है।

ज्ञानगंज के सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि यह साधारण भौगोलिक स्थान कदापि नहीं है। यद्यपि यह गुप्त रूप से भूपृष्ठ पर ही विद्यमान है, तथापि इसका यथार्थ स्वरूप अत्यन्त दूर है। प्रकृत योगी के विना इस स्थान का संधान कोई भी नहीं प्राप्त कर सकता। इसमें प्रवेश प्राप्त करना तो और भी दुष्कर है। इतने पर भी वहां के अधिकारीगण का अनुग्रह हो जाने पर इस जगत का एक साधारण व्यक्ति भी वहां जा सकता है। भौम ज्ञानगंज कैलाश के पार उर्ध्व में विराजित है। वहां साधारण पथिकगण नहीं जा सकते। ज्ञानगंज, राजराजेश्वरीमठ, तथा परमगुरुदेव का श्री मंदिर स्तरविन्यासक्रम के अनुरूप विभिन्न स्तरों में अवस्थित है। ज्ञानगंज सर्व निम्नस्तर को कहते हैं। राजराजेश्वरीमठ मध्यस्तर है। परमगुरु महातपा का स्थान सर्व्वोच्च कहा जा सकता है। यह स्थानत्रय योगी द्वारा निर्मित है। ज्ञानगंज आदि का उन्मेष योगी की तीव्रतम योग साधना के द्वारा हो सका है, जिसका उद्देश्य है विश्वकल्याण के महालक्ष्य को पूर्ण करना।

प्रथम को गुरुधाम (गुरुराज्य) कहा जाता है। द्वितीय ज्ञानगंज है। तृतीय का कोई नाम निर्देश नहीं हो सकता। वह अव्यक्त से व्यक्तावस्था में नहीं आ सका है। प्रथम योगभूमिरूप है। इसे आगमशास्त्रों ने विशुद्ध अध्वा कहा है। ज्ञानगंज की सत्ता वास्तव में गुरुराज्य से अतीत है। यथार्थ तथ्य तो यह है कि ज्ञानगंज से लेकर ज्ञानगंज के लक्ष्यस्थल परमाप्रकृति पर्यन्त जो विशाल राज्य स्थित है; वह वास्तव में मात्र ज्योतिरूप था। राज्यरूपेण परिणत नहीं था। वह महाखण्ड योगी के कालदेहानुष्ठित कर्म के प्रभाव से राज्यरूप में परिणत हो गया है।

"ब्रह्माण्ड नो भेद" नामक एक ग्रंथ गुजराती भाषा में सन् 1926 ई० में प्रकाशित हुआ था। इस ग्रंथ में तिब्बत स्थित सत्य ज्ञानाश्रम अथवा ज्ञानमठ नामक गुप्त मठ का इतिवृत्त अंकित है। यह गुप्त मठ तिब्बत में अवस्थित है। इसी मठ में

विक्रमादित्य के राजत्व में तीन साधक यहां आये थे और यहीं स्थायी रूप से रहने लगे। यह स्थान इतना गुप्त है कि सुदीर्घकाल में चीन, बर्मा तथा आसाम के मात्र 12 साधकों के अतिरिक्त अन्य किसी को यहां का सन्धान ही नहीं मिला। कुछ दिनों के पश्चात् यहां से दो महात्मा बाहर आये। रोमदेशीय एक यात्री ने भी इसका नाम 'ज्ञानमठ' कहा है। यहाँ के साधक एवं महापुरुष अलौकिक दिव्य शक्ति से युक्त हैं। एक ग्रीक पर्यटक ने भी यहां का वृत्तांत अंकित किया है। इनके अनुसार ऐसा अद्भुद स्थान पृथ्वी पर नहीं है। यह Heaven on Earth, भूस्वर्ग है। चीनदेशीय इतिहासकार Fengliyan का कथन है कि दुर्गम पर्वत् के अन्तराल में यह गुप्त मठ रहस्यावृत् स्थल है जहां योगक्रिया की चर्चा होती रहती है। ज्ञात होता है कि कभी इस जगत् का यथार्थ कल्याण इसी मठ के द्वारा होगा। यहाँ के योगीगण जो इच्छा हो, वही करने में समर्थ हैं। एक अन्य इतिहासकार का कथन है कि यहाँ के योगियों ने वायुमण्डल में एक अदृश्य दुर्ग की रचना करके इस मठ को रक्षित किया है। "देवदर्शन" ग्रंथ के अनुसार अनन्तयोगी नामक महाराष्ट्रीय साधक भगवान दत्तात्रेय के आदेशानुसार योग शिक्षार्थ ज्ञानगंज गये थे।

रामठाकुर प्रसंग तथा कौशिकी आश्रम का वर्णन

बहुत दिनों पूर्व की घटना है। तब मैं वाराणसी के मिश्रपोखरा क्षेत्र में रहता था। उस समय मैं प्रतिदिन संध्याकाल दैनन्दिन कार्य को समाप्त करने के पश्चात् गंगा के स्निग्ध समीर का सेवन करने के लिए और गंगातीर पर बैठकर मित्रों के साथ अध्यात्म चर्चा के लिये जाया करता था। साधारणतः उस समय यह गोष्ठी प्रयाग घाट पर होती थी। कभी-कभी दरभंगा अथवा दशाश्वमेध घाट पर भी हम बैठ जाते थे।

एक दिन, (सम्भवतः १९२३ ई० फरवरी माह) हम परस्परतः सत्चर्चा कर रहे थे। उसी समय हमारे मित्र महिमंचन्द्रसिंह महाशय ने साधु-महात्माओं की वार्ता करते हुए यह सूचित किया कि रामठाकुर नामक एक उत्कृष्ट साधु का वाराणसी आगमन हुआ है।[१] श्री सिंह महाशय ने यह भी बतलाया कि

(१) वास्तव में १९ फरवरी १९१८ ई० को संध्याकाल में सर्वप्रथम मित्रवर श्री विमल मुखोपाध्याय से इन महात्मा का विवरण सुना था। वे उस समय काशी के मानसरोवर क्षेत्र में कुछ काल के लिये ठहरे थे, तथापि इतने दिनों तक उनके दर्शनों का सुयोग नहीं मिला। जब श्री महेशचन्द्र भट्टाचार्य ने हरसुन्दरी धर्मशाला का निर्माण कराया, तब प्रायः उनका दर्शन वहीं हो जाता।

महात्मा कुछ समय काशी में ही निवास करना चाहते हैं। वे सम्प्रति चिन्तामणि गणेश मंदिर के पास एक महाशय के घर में ठहरे हैं। इसके पश्चात् वे मुक्तकंठ से उन महात्मा की प्रशंसा करने लगे। उनके मुख से इन महातमा की चर्चा सुनकर मेरी यह एकान्तिक इच्छा होने लगी कि उनका दर्शन प्राप्त करूं।

महिम ठाकुर के तत्वावधान में हम २-३ लोग उन महातमा के दर्शनार्थ चिंतामणि गणेश पहुंचे। वहाँ जाकर जो दृश्य परिलक्षित हुआ, उससे हम सब मुग्ध हो उठे। देखा कि एक व्यक्ति जिनकी आयु अनुमानत: ६०-६५ वर्ष है, गले में तुलसी की माला पहने तथा एक शुभ्र चादर ओढ़ कर बैठे हैं। मुख विनोद पूर्ण मधुर हास्य से सुशोभित है। उनके अस्तित्व से धीर, स्थिर, सौम्यभावटपक रहा है। यद्यपि हम उनके लिये अपरिचित थे, तथापि हम सब को देखते ही उन्होंने नम्रभाव से नमस्कार किया और आदर के साथ बैठाया। हम सब यथास्थान बैठ कर उनके साथ वार्त्तालाप में प्रवृत्त हो गये। कुछ समय की कथा-वार्त्ता से यह विदित होने लगा कि ये वास्तव में महापुरुष हैं।

जिस दिन प्रथम बार इन्हें देखने गया था, उसी के ४ दिन पश्चात् शिवरात्रि महोत्सव का अनुष्ठान भी होना था। उस दिन मैं सायंकाल पर्यन्त विभिन्न साधु-सन्तों का दर्शन करता था। अत: इस बार हम सब व्रती रहकर निश्चिन्त भाव से ठाकुर महाशय का सत्संग लाभ करने लगे। इसी प्रकार वे जितने दिन काशी में थे, मैं बीच-बीच में उनके पास जाता रहता और उनके साथ सत् प्रसंग की आलोचना करता रहता। वे प्राय: प्रतिवर्ष काशी आया करते थे। कभी-कभी वर्ष में २-३ बार भी काशी आ जाते। वे सभी समय एक ही आवास में ठहरें, ऐसा नहीं होता था। विभिन्न भक्तों के गृह में विभिन्न काल में रहते थे। कभी-कभी धर्मशाला में भी ठहर जाते। उनका दर्शन कभी कभी मानसरोवर में, कभी हाड़ारबाग में कभी-कभी चिन्तामणि गणेश, कोदई चौकी, पातालेश्वर प्रभृति अनेक स्थानों पर स्थित उनके भक्तों के आवास में मिलता रहता था।

उनका जीवन अत्यन्त अद्भुद् था। भोजन एक प्रकार से नहीं करते थे, तथापि उनका शरीर इतना कर्मठ तथा सुदृढ़ था कि उनके साथ पैदल चलना प्राय: कठिन हो जाता! कभी-कभी मैं सायंकाल को उन्हें नौका पर ले जाता। नौका पर ही अध्यात्म चर्चा होती रहती। गंगावक्ष पर नौका के क्रोड़ में बैठकर जो चर्चा होती उसमें अनेक गम्भीर तत्वों की पर्यालोचना चलती रहती थी।

रामठाकुर महाशय का जीवन अलौकिक रहस्यों से युक्त था। प्रसंगक्रम में ठाकुर महाशय अपने जीवन के अनेक वृत्तान्त सुनाया करते थे। उनके जीवन की अभिज्ञता इतनी विचित्र थी, कि वह साधारण व्यक्ति के लिये विश्वासयोग्य नहीं होगी। उनके हिमालय अवस्थान काल में तथा अन्य स्थानों में उनके साथ इतनी

अलौकिक घटनाएँ घटित हो चुकी हैं, जिनका सम्यक् विवरण दे सकना सम्भव ही नहीं है। इन सब वृत्तान्तों को प्रकट करना उनकी इच्छा के विरुद्ध था। यहाँ तक कि उनकी यह भी इच्छा नहीं थी कि उनके जीवन चरित्र को प्रकाशित कराकर उनका प्रचार किया जाये। यदि भक्तों में से कोई ऐसी इच्छा प्रकट करता, वे उसे इस कार्य से वर्जित कर देते। उनके गुरुदेव का वृत्तान्त उनके शिष्यों ने उन्हीं के श्रीमुख से सुना था। वह वृत्तान्त भी अत्यन्त अलौकिक है। एक दिन राम ठाकुर महाशय के अतीन्द्रिय गुरुदेव इनके सम्मुख हठात् प्रकट हो गये, उनके साथ और भी कई लोग आये थे। उन्होंने रामठाकुर और अपने साथ आये लोगों से पूछा कि कौन-कौन व्यक्ति कुंभक प्राणायाम की अवस्था में ४-५ दिन रहने की युक्ति जानता है? रामठाकुर तथा अन्य दो व्यक्ति ने गुरुदेव के सम्मुख यह प्रगट किया कि वे लोग इस युक्ति को जानते हैं। गुरुदेव ने इन लोगों को साथ लेकर कौशिकी तीर्थ की यात्रा प्रारम्भ कर दिया। कौशिकी तीर्थ जाने के लिए बदरिकाश्रम से एक गुहापथ है जो अत्यन्त गुप्त है तथा जनमानस से अगोचर है। इस मार्ग से चलने पर कौशिकी तीर्थ तक ३ मास में पहुँचा जा सकता है, परन्तु रामठाकुर वहाँ ६ मास में पहुँच सके थे।

इस प्रकार गुरुदेव ने रामठाकुर तथा अन्य दो सहचरों के साथ कौशिकी की यात्रा प्रारम्भ कर दिया। भयानक दुर्गम पथ। कभी-कभी तो गुफा में चलते-चलते ३-४ दिन व्यतीत हो जाने पर भी प्रकाश का दर्शन नहीं होता था। हिमालय के उस निभृत स्थल पर (गुफा में) अनेक साधु-सन्यासी पता नहीं कितने समय से ध्याना-वस्थित बैठे थे। रामठाकुर को ज्ञात हुआ था कि ध्यानरत महात्माओं की आयु एक सहस्त्र वर्ष से कदापि कम नहीं है। वे मनुष्य ऐसे प्रतीत भी नहीं होते थे। दूर से देखने पर लगता था कि वे पत्थर की मूर्ति हैं। जब ये लोग उन महात्माओं के सम्मुख पहुँचे तभी वे यह जान सके कि ये लोग जीवन्त मनुष्य हैं। हड्डी पर मानो केवल त्वचा का आवरण हो! वे महात्मा इतने विशाल थे कि उनके सामने खड़े होने पर रामठाकुर उनके मस्तक की ऊँचाई तक नहीं पहुँच सके, जबकि वे पद्मासन पर आसीन थे, और रामठाकुर महाशय उनके पास खड़े थे। इन्होंने ६ आसनों पर ६ महात्माओं का प्रत्यक्षतः दर्शन प्राप्त किया। अनेक आसन शून्य भी थे। अर्थात् उन पर कोई भी नहीं आसीन था। प्रतीत हुआ कि उन पर आसीन महात्मागण देहत्याग कर चुके हैं। उन रिक्त आसनों में अभी भी इतनी शक्ति एकत्रित थी, जिसके कारण उन पर राम ठाकुर और उनके सहचर बैठ भी नहीं सके। सर्वान्त में गुरुदेव ने राम ठाकुर तथा अपने दो सहचरों को यह आदेश दिया कि वे लोग उक्त ६ समाधिस्थ महात्माओं की सेवा करते रहें। यह आदेश देकर गुरुदेव अन्तर्हित हो गये।

रामठाकुर तथा उक्त सहचरगण इन ६ महात्माओं की सेवा करने लगे। वहाँ भोजन के नाम पर वन में फल इत्यादि कुछ भी नहीं मिलता। केवल पत्तों का

रस पीकर काल अतिवाहित करना पड़ा। ये लोग पत्तों की टहनी से वहाँ का स्थान साफ करते। वहाँ पार्श्ववर्त्ती झरना का जल एक गढ़े में गिरा करता था, जिससे एक छोटी सी झील बन गई थी। पानी के विभिन्न फूल उस झील में खिले थे। इसी के पत्तों पर उन पद्मफूलों के डंठल टुकड़े करके प्रत्येक महात्मा के सम्मुख रख दिया करते थे। यदि वन में कोई फल मिल जाता, उसे भी इन ६ महात्माओं के सम्मुख अलग-अलग रख दिया करते। महात्माओं के कमण्डल मे इसी झील का निर्मल जल भर कर रखना भी नित्य का कार्य था। वन में प्राप्त पुष्पों से इन महात्मागण के चरणों में अर्घ्य प्रदान करते। दूसरे दिन जाकर देखने से यह विदित होता कि उन महात्मागण के सम्मुख रखा गया द्रव्य उन पत्तों में नहीं है। इससे इन लोगों को यह ज्ञात हो जाता था कि महात्माओं ने इनकी सेवा को ग्रहण कर लिया है। इस प्रकार से रामठाकुर तथा उनके दोनों सहचर प्रतिदिन महात्माओं की सेवा करने लगे। जिस दिन उन्हें यह स्थान छोड़ कर आगे जाना था, उस दिन जब वे उन महात्माओं को प्रणाम करने गये, तब उन तपस्वी महात्माओं ने स्मित हास्य तथा आशीर्वादात्मक वर मुद्रा द्वारा उन्हें विदा किया।

इसी दिन रामठाकुर के दोनों सहचर अपने गन्तव्य स्थल की ओर चले गये। अब रामठाकुर मार्ग में परिचित हुये कुछ अन्य सन्यासियों के साथ तपोक्षेत्र हिमालय के इस रहस्यमय क्षेत्र की ओर अग्रसर होने लगे। एक दिन पर्वत के प्रान्त देश में देखते हैं कि एक अतिवृद्ध सन्यासी धूनी जलाकर आसीन हैं। उनके पार्श्व में एक चिमटा तथा कमण्डलु रखा है। कुछ समय के पश्चात् वहाँ एक विष-धर सर्प उपस्थित होता है। वृद्ध सन्यासी ने सर्प को पकड़कर अग्नि में फेंक दिया। वह सर्प अग्निदग्ध हो गया और उसका अवशेष एक पिण्ड में परिणत हो गया। सन्यासी ने उस पिण्ड को चिमटे द्वारा सात भागों में विभक्त किया। चारों दिशाओं में एक-एक तथा उर्ध्व दिशा में एक टुकड़ा विसर्जित करने के उपरान्त छठें टुकड़े को अग्नि में अर्पित कर दिया। अवशिष्ट सातवें को उन वृद्ध सन्यासी ने भक्षण कर लिया। तत्पश्चात् वे वहाँ मिट्टी में शवासन में लेट गये। क्रमशः उनका शरीर फूलने लगा और एक प्रकाण्ड आकृति में परिणत हो गया। अन्त में वह फूलते-फूलते फट गया और उस देह से एक षोडशवर्षीय सुन्दर युवक निर्गत हुआ। उसने उस वृद्ध सन्यासी के निर्जीव शरीर को धूनी में निक्षिप्त किया और उनका कमण्डलु एवं चिमटा लेकर कहीं चला गया।

इस घटना के कुछ दिनों के पश्चात् उनके गुरुदेव पुनः प्रगट हो गये। अब पुनः यात्रा प्रारम्भ होती है। अब केवल रामठाकुर एवं गुरुदेव ही पथिक के रूप में साथ थे। मार्ग में जिन सन्यासियों का साथ था, वे अपने गन्तव्य की ओर जा चुके

थे। मार्ग में अनेक उच्चस्तरीय साधक तथा महात्माओं से भेंट होती गयी। एक दिन रामठाकुर अकेले ही गुरुदेव के लिये फल खोजने निकले। अब जिस स्थान तक आ पहुँचे थे, वहाँ कहीं भी वृक्ष-वनस्पति का लेशमात्र भी नहीं था। चारों ओर हिम-मण्डित प्रदेश ही दृष्टिगोचर हो रहा था। इस बर्फ से ढके स्थान पर फल कहाँ मिले? इतने पर भी शिष्य रामठाकुर गुरु की सेवा करने के लिए पूर्ण परिश्रम से कुछ फल अथवा वनस्पति की खोज में लगे थे। घूमते-घूमते एक तुषारमण्डित विराट पर्वत शिखर पर आ पहुँचे। वहाँ से देखते हैं एक अपूर्व स्वर्गीय सुषमामण्डित दृश्य। दिव्यद्युति समन्वित अपरूप (युगल-नर-नारी) दर्शन प्राप्त होता है। राम ठाकुर तीव्रता से उनके पास पहुँचकर प्रणाम करते हैं। विश्वात्मिका रूपिणी मातृमूर्ति ने अत्यन्त स्नेह के साथ एक मनोरम फल रामठाकुर को दिया और क्षणमात्र में वे दोनों (युगलमूर्ति) उस विराट तुषारमण्डित पर्वत में अन्तर्हित हो गये। जब राम ठाकुर फल लेकर गुरुदेव के पास पहुँचे, गुरुदेव ने वह फल रामठाकुर को ही दे दिया और कहा कि यह फल तुमको माता पार्वती ने दिया है। इसको तुम ग्रहण करो।

यह सब घटना उसी रहस्यमय कौशिकी आश्रम से सम्बन्धित है, जो इसी भूमण्डल से संलग्न होने पर भी इससे अलग है। इसका क्षेत्र कितना विस्तृत है। इसका विवरण नहीं दिया जा सकता। जिन पर आश्रमस्थ महापुरुषों की कृपा हो जाती है, केवलमात्र वे ही इस क्षेत्र में विचरण कर सकते हैं। इसी क्षेत्र के एक निर्जन प्रान्त में एक विशाल गुफा थी। उस गुफा में विभिन्न आसनों पर ध्यानमग्नावस्था में योगीगण विराजित थे। कब से विराजित थे और कब तक रहेंगें, यह नहीं कहा जा सकता। उन योगीगण के आसनों में से एक आसन रिक्त था। गुरु के आदेशानुसार रामठाकुर उस आसन पर बैठ गये और इसी के साथ गुरुदेव ने वहाँ से प्रस्थान किया। अब रामठाकुर की तपस्या प्रारम्भ होती है। कितने वर्ष वे वहाँ समाधिस्थ थे कौन बतला सकता है? समाधिस्थ अवस्था से इनको गुरुदेव ने प्रबोधित किया। नेत्र खुलने पर रामठाकुर एक और आश्चर्य प्रत्यक्ष करते हैं। उनके पास ही उनके दोनों सहचर भी आसन पर बैठे हैं और एक ने गले में अद्‌भुद नारायण शिला धारण कर रखा है।

महासन्धिक्षण में उस गुफा में यज्ञाग्नि प्रज्वलित होती है। सप्ताहव्यापी यज्ञ-कार्य का अनुष्ठान रामठाकुर करने लगे। अब पूर्णाहुति का समय सन्निकट था। इसी समय देवमण्डली, त्रिकालज्ञ मंत्रद्रष्टा ऋषिगण, पितामहगण तथा चिन्मय राज्य के अनेक दिक्‌पाल यज्ञस्थल में आविर्भूत हो जाते हैं। इसी समय गुरुदेव भी समागत हैं तथा अपनी शिवदृष्टि से पूर्णकाम शिष्य को देख रहे हैं। गुरु ने अपना जलपूर्ण कमण्डल रामठाकुर को आहुति निवेदनार्थ दिया। इस जल से पूर्णाहुति देने के साथ

ही यज्ञाग्नि जोरों से प्रज्वलित हो उठी। देवगण ने संतुष्ट होकर आहुति ग्रहण किया और अन्तर्हित हो गये। यह रामठाकुर की साधना का सम्यक् साफल्य था।

इसके पश्चात् रामठाकुर के गुरु अनंगदेव ने उन्हें लोकालय में (संसार में) जाकर लोकहित का कार्य करने का आदेश दिया और अनेक उपदेश आदि देकर अन्तर्ध्यान हो गये। रामठाकुर महाशय ने कालान्तर में मुझे बतलाया था कि कौशिकी आश्रम ज्ञानगंज की ही भाँति हिमालय में एक गुप्त साधना केन्द्र है। यहाँ ठाकुर महाशय ने एक विराटकाय महापुरुष का दर्शन किया था। उनकी तीन मास पर्यन्त सेवा की थी। इसके पश्चात् ऐसे ही एक गुप्त आश्रम 'वशिष्ठाश्रम' में गये थे। मार्ग में बालक बालिका के रूप में हरगौरी का दर्शन भी प्राप्त हुआ था। रात में उनकी ही गुफा में रात्रि व्यतीत किया। वशिष्ठाश्रम में गुरुवर्ग से इन्हें प्रभूत आशीर्वाद प्राप्त हुआ। अपने दीर्घकालीन (३० वर्ष) हिमालय प्रवास में ठाकुर महाशय ने उस प्रदेश में स्थित अनेक सिद्धाश्रमों का दर्शन प्राप्त किया था। इनमें योगेश्वर स्थान तथा कौशिकाश्रम प्रमुख हैं।

योगेश्वर स्थान नीची भूमि पर अवस्थित है। यहाँ न वर्फ का आवरण है न वृक्ष का। यहाँ की भूमि स्फटिक के समान शुभ्रवर्ण है। यहाँ कोई मंदिर नहीं है। विस्तृत मैदान परिलक्षित होता है। चारो कोनों में खंभों पर विशाल पत्थर रखा हुआ है। उससे ऊपर एक आसन है जिस पर एक उज्वल शान्तमूर्ति ध्यानस्थ ऋषि आसीन हैं। मुनि का मुखमंडल जटाजूट से सुशोभित है। इनकी ओर अनिमेष रूप से एक देवी देख रही हैं। यह देवी साक्षात् गौरी हैं। ठाकुर महाशय ने यहाँ पाँच दिन व्यतीत किये। आश्रम से नीचे एक पहाड़ी जलस्रोत था। वहाँ से जल लाया जाता। आश्रम में प्रतिदिन पुष्पाभूषण युक्त एक बालिका नृत्यगान करते हुए शिवगौरी को एक पुष्पमाला पहनाती। संध्याकाल में वह बालिका पता नहीं कहाँ गायन करते-करते चली जाती। ठाकुर महाशय के अनुसार इस आश्रम ऐसा वातावरण कहीं नहीं मिलता।

यहाँ से आगे बढ़ने पर एक सुदीर्घ तथा अंधकारपूर्ण पहाड़ी सुरंग पार करते-करते (कई दिनों की यात्रा के पश्चात्) एक ऐसे स्थान पर पहुँचे जहाँ न दिन था न रात। गोधूलि के समान एक मृदु आलोक निरन्तर प्रसारित रहता था। बाद में विदित हुआ कि यह आलोक एक घोर अंधकारपूर्ण स्थान में बैठे एक दीर्घकाय महापुरुष की अंगद्युति है। उस गुफा से बाहर निकलने पर इन्हें सूर्य का आलोक दृष्टिगोचर होने लगा। इन्हें अब यह भी ज्ञात हुआ कि वह मीलों लम्बी सुरंग पर्वत को भेदकर दक्षिण से उत्तर की ओर गयी थी। उस सुरंग को पार करने के पश्चात् इन्होंने अन्त:प्रेरणा से एक विशाल पर्वत श्रृंग पर आरोहण किया था। इसी के नीचे

कौशिकी पर्वत माला थी। कौशिकी पर्वत माला के क्रोड़ में कौशिकी आश्रम विद्यमान है। यह कंकणाकृति तथा आधी मील सीमा में है। इसके चारों ओर का प्रदेश हिमाच्छादित है परन्तु यह आधे मील का प्रदेश हिमरहित है। यहाँ की भूमि शिलामयी है। नीचे एक अत्यंत वेगवती नदी बह रही है, जिसे आश्रमवासी मन्दाकिनी कहते हैं। इसे पार करना अत्यन्त कठिनतर है। शिलाओं पर सावधानी से पैर रखकर इसे पार किया जाता है। आश्रम में विचित्र जाति के पुष्प एवं फल के वृक्ष हैं, जैसे इस देश में अन्यत्र नहीं मिलते।

रामठाकुर महाराज ने मुझे बतलाया कि कौशिकी आश्रम से मानसरोवर अत्यन्त दूर उत्तर दिशा में है। इस पर मैंने प्रश्न किया कि संसार के अनेक पर्वतारोहियों तथा यात्रियों ने मानसरोवर के आसपास का सारा प्रदेश खोजा है, परन्तु उनमें से किसी ने भी इन आश्रमों का विवरण नहीं दिया, इसका क्या कारण है? ठाकुर महाशय का उत्तर था "ये दिव्य आश्रम प्रत्येक के लिये अगोचर हैं। योगीगण की कृपा से ही इनका सन्धान प्राप्त होता है।"

वाराणसी का गुप्त आश्रम

वाराणसी का बालक केदार मालाकर भी वाराणसी में ही एक अद्भुत आश्रम में पहुँचा था। इस बालक का वृत्तान्त अत्यन्त आश्चर्यजनक है। यह बालक सूक्ष्म शरीर से लोकलोकान्तर में जाता और वहाँ का संवाद मुझे देता रहता। एक दिन इसके साथ एक विचित्र घटना घटी। केदार को ऐसा लगा मानो उनके घर में कोई महात्मा आये हैं। वे केदार से मिल कर बोले "आपके हितार्थ एक महापुरुष आये हैं, वे चाहते हैं आप उनसे मिलें।" केदार ने पूछा "वे कहाँ रहते हैं, मैं किस मार्ग से जाकर उनके पास पहुँच सकता हूँ? आगन्तुक महात्मा बोले "आप विशेश्वरगंज पहुँचें। वहाँ जाने पर उनका स्थान परिलक्षित हो सकेगा, आप स्वयं जान जायेंगे कि कहाँ जाना है?" और महात्मा अदृश्य हो गये।

केदार अपने भानजे से साइकिल माँग कर चले, पहले गोदौलिया फिर चौक और मैदागिन होते विशेश्वरगंज पहुँचे। सायं ४ का समय था। विशेश्वरगंज पहुँचते ही इनमें कुछ भाव परिवर्त्तन होने लगा। इनकी दृष्टि से भीड़ भरा जनसंकुल भौतिक विशेश्वरगंज तिरोहित हो गया। देखते हैं सम्मुख एक विशाल मैदान है, बीच में कुछ ऊँची जमीन है। वहाँ पेड़ लगे हैं और एक आश्रम है। आश्रम तथा केदार के मध्य एक खेत था। उसी की मेंड़ से साइकिल लेकर आश्रम तक पहुँचे। वहाँ एक महात्मा बैठे थे। दो घण्टे तक कथावार्त्ता चली। संध्या अधिक हो जाने

पर महात्मा ने इनसे घर वापस जाने के लिये कहा। केदार अपनी साइकिल लिये खेत पार करते बाहर निकले। देखते हैं कि वे विशेश्वरगंज न पहुँचकर इलाहाबाद को जानेवाली ग्रैण्डट्रंक रोड पर आ पहुँचे हैं, जहाँ संत कबीर की जन्मस्थली लहरतारा है। ये वहाँ से घर पहुँचे। आश्चर्य तो यह था कि गये थे पूर्व दिशा से और जब उसी खेत से बाहर निकले, तो पश्चिम की ओर कैसे आ गये?

इसी प्रकार एक दिन पुनः महात्मा के दर्शन को निकले। उसी विशेश्वरगंज से होते खेतवाले रास्ते से आश्रम पहुँचे। वहाँ पहुँचकर केदार ने पूछा "महाराज यह स्थान कहाँ है, इसकी स्पष्ट स्थिति क्या है?" महात्मा ने कहा "अच्छा, तुम स्वयं देखो" और यह कहकर पास पड़े एक बड़े प्रस्तरखण्ड को उठाया। उठाने पर उस स्थान से केदार देखा कि उसके नीचे अनन्त शून्य है। एक विराट अनन्त गह्वर जैसा है। चारो ओर व्याप्त इस अनन्त शून्य में असंख्य ग्रह-नक्षत्र घूर्णित हो रहे हैं। केदार यह समझने में असमर्थ रहे कि यह कौन सा विचित्र स्थान है? महात्मा ने कहा "केदार आश्चर्य की कोई बात नहीं, मैं जहाँ हूँ वहां से पृथ्वी के सभी स्थान सन्निकट हैं।" और उन्होंने वह प्रस्तरखण्ड यथास्थान रख दिया। अब महात्मा ने कहा "केदार अपना घर देखो।" इसी के साथ महात्मा ने केदार के नेत्रों पर हस्तसंचालन किया। केदार अपने घर के सब प्राणियों को देखने लगे, उस समय वे लोग जो वार्ता कर रहे थे, उसे सुनने भी लगे। महात्मा बोले "मैं सब के निकट हूँ, फिर भी यह स्थान सबसे दूर है, अब तुम घर जाओ।" केदार उसी खेतवाले रास्ते से चले। सोचा कि विशेश्वरगंज निकलूँगा, परन्तु आश्चर्य! आज तो वे काशी हिन्दु विश्वविद्यालय के पास निकले जो काशी का दक्षिणी भाग है। विचित्र रहस्य है। खेत एक ही है, परन्तु उसके बाहर आने पर कभी काशी के पूर्व तो कभी पश्चिम, कभी दक्षिण में अपने को पाते हैं! इसका समाधान कैसे हो?

वास्तविकता तो यह है कि केदार जहां गये थे, वह सिद्धभूमि ही है। इस प्रकार के स्थान स्थूल एवं सूक्ष्म-दोनों होते हैं। किसी भौगोलिक स्थान से सम्बद्ध न होने पर भी जब जहां से चाहें सम्बन्धित हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में यह स्थूल प्रतीत होता है, तथापि इसे प्रत्येक व्यक्ति नहीं देख सकता। ऐसी भूमि अखण्ड एवं अविभाज्य होती है। इसके अंश नहीं होते, तथापि सिद्ध पुरुष की इच्छा के अनुरूप अंशात्मिकता का द्योतन होने लगता है। यदि उस भूमि के अधिष्ठाता पुरुष की इच्छा हो अथवा दर्शन देने की इच्छा हो, तब लौकिक जगत् के किसी भी स्थान पर सिद्धभूमि का प्रकटीकरण हो सकता है। यह भूमि किसी भी लौकिक देश-काल के साथ आश्चर्यजनक रूप से युक्त हो जाती है। यह भूमि जहां चाहे प्रकट हो सकती है और लौकिक स्थान से सम्बन्ध बना सकती है।

महायोगी विशुद्धानन्द जी और ज्ञानगंज

पूज्यपाद स्वामी विशुद्धानन्दजी का पूर्व नाम भोलानाथ था। १५ वर्ष की अवस्था में एक पागल कुत्ते के काटने से अत्यन्त पीड़ित हो गये। चिकित्सा से कोई लाभ नहीं हो सका। रोग की यंत्रणा वढ़ती ही गई। अत: इनको हुगली भेजा गया। वहां भी चिकित्सा चलने लगी, परन्तु कोई भी उपचार फलीभूत नहीं हो रहा था। वालक भोलानाथ ने समझ लिया कि अव जीवन रक्षा हो सकना संभव नहीं है।

उस दिन संध्या का समय था। सूर्यदेव अस्ताचल की ओर प्रयाण कर चुके थे। फलत: पश्चिम के आकाश में उनकी रक्तवर्णी छटा विकीर्ण हो रही थी और भागीरथी के जल में उसका प्रतिबिम्व पड़कर उसे भी अपने वर्ण में रंजित कर रहा था। बालक भोलानाथ निर्निमेष दृष्टि से उस प्रतिविम्व को लहरों से खेलते देख रहे थे। उन लहरों की हिल्लोल के समान बालक के छोटे से हृदय में कितनी ही आशा तथा आकांक्षाओं की लहरें उठ बैठ रहीं थीं और विलीन होती जा रहीं थी। अस्तोन्मुख सूर्य की ओर देखने मात्र से वालक भोलानाथ के मन में यह विचार आता कि उसका जीवन सूर्य भी अव अस्तोन्मुखी है। पता नहीं किस निश्चय के साथ बालक धीरे-धीरे भागीरथी के तट पर आ पहुँचा। प्रतीत हो रहा था उसकी इच्छा यह है कि स्निग्ध सलिला जान्हवी के शीतल क्रोड़ में आत्मसमर्पण करते हुये चिरकाल से तापित प्राण को शीतल करूँगा, किन्तु गंगातट पर आते ही जो दृश्य परिलक्षित होता है, उससे बालक चकित हो उठा, आत्मविस्मृत होकर, चित्रलिखित सा, अनिमेष रूप से उस अपूर्व दृश्य को देखने लगा। बालक ने देखा कि गंगा में एक जटाजूटधारी सन्यासी निरन्तर उन्मज्जन निमज्जन कर रहे हैं। गंगाजल भी उनके उन्मज्जन से ऊपर उठ रहा है और निमज्जन के ममय नीचे आ जाता है। सन्यासी का मुखमण्डल प्रशान्त है, चक्षुद्वय उज्वल हैं तथा मधुर भाव से ओत:प्रोत हैं। उन्हे देखने से यह धारणा होती है कि मानो अपार्थिव ज्ञान तथा करुणा एक साथ मिलित होकर दु:खी पीड़ित धरणी का उद्धार करने के लिये आत्मप्रकाश कर रहा है।

सन्यासी त्रिकालज्ञ महापुरुष थे। उनके लिये कुछ भी अज्ञात नहीं था। वालक की ओर दृष्टि नि:क्षेप से उसकी समस्त वेदना जान लेना सन्यासी के लिये कठिन नहीं था। वे वालक से गंभीर परन्तु स्निग्ध स्वर में बोले "बेटा! इतना क्यों घवड़ाते हो। दरद होता है? अच्छा हम सव अच्छा कर देंगे।" उन्होंने किनारे आकर बालक भोलानाथ के शिर पर अपना शिवहस्त संचालित किया। उनके हाथों

का स्पर्श होते ही बालक को प्रतीत हुआ मानों न जाने कितना शीतल हिमखण्ड शिर पर रक्खा है ! उसकी शिराओं तथा रक्त की समस्त जलन के स्थान पर अब एक सुशीतल अमृतधारा सर्वत्र प्रवाहित हो रही थी। उसकी समस्त ज्वाला यंत्रणा निमेष मात्र में समाप्त हो गई ! मृत्युभय तथा आसन्न विपन्ति की आशंका भी निर्मूल हो चली। जीवन के प्रति नूतन आशा का संचार होने लगा !

सन्यासी ने एक औषधि लाकर बालक को दिया और घर वापस जाने के लिये कहा। बालक वापस आ गया। अब उसकी समस्त रोग यंत्रणा समाप्त हो चली थी। दूसरे दिन बालक भोलानाथ का मन नहीं माना और वह पुनः सन्यासी के पास गंगातट पर आया। प्रणाम के उपरान्त विनीतभाव से प्रार्थना किया "प्रभो ! आपने मुझे जीवनदान दिया है। मैं अब आपको नहीं छोड़ सकता। आप मुझे दीक्षा दीजिये तथा धर्म जीवन का पथ प्रदर्शन कीजिये।" महापुरुष ने बालक को एक आसन की शिक्षा देकर बीज भी प्रदान दिया। उन्होंने कहा "बालक ! मैं तुम्हारा गुरु नहीं हूँ। इस आसन का अभ्यास करो और बीजमंत्र का जप करो। इससे तुम्हारी देहशुद्धि होगी। जो तुम्हारे गुरु हैं, इस समय कहीं और गये हैं। वे तुम्हारी मनःकामना पूर्ण करेंगे। उनकी कृपा से तुम्हारे प्रत्येक अभाव दूर होंगे और तुम धर्म जगत् में शीर्ष स्थान प्राप्त करोगे। तुम्हारा जीवन सार्थक होगा। अब घर जाओ। मैं गंगासागर जा रहा हूँ। समय होने पर, मैं तुम्हें गुरुदेव के पास लेकर जाने के लिये पुनः मिलूंगा। अब निश्चिन्त रहो।"

बालक भोलानाथ घर वापस आ गये। क्रमशः उन्हें आरोग्यलाभ होने लगा। उनकी मां को भी यह अलौकिक वृत्तान्त सुनकर आनन्द का अनुभव हुआ। महापुरुष के जाने के उपरान्त २ वर्ष व्यतीत हो गये। एक दिन उन्होंने सुना कि ढाका में एक अलौकिक सन्यासी का आगमन हुआ है। वे अधिकांश समय जल में ही रहते हैं। जल में कभी डुबकी लगाते हैं तो कभी बाहर निकलते हैं। उनके डुबकी लगाने पर जल भी नीचे चला जाता है, और जब वे उपर उठते हैं तब जल स्तम्भ के समान उपर उठ जाता है। यह वृत्तान्त सुनकर भोलानाथ की पूर्वस्मृति जाग्रत हो गई। उन्होंने कालविलम्ब किये बिना ढाका की ओर प्रस्थान किया। अन्ततः रमुना के एक मठ में उन महापुरुष से साक्षात्कार हुआ। भोलानाथ ने उन्हें देखते ही पहचाना कि ये तो वही सन्यासी हैं जिनकी कृपा से उनकी जीवनरक्षा हो सकी थी। भोलानाथ ने उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और निवेदन किया "प्रभो ! अब मुझे शरण दीजिये।" सन्यासी महोदय ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया।

उपर्युक्त सन्यासी का नाम् श्रीमत् नीमानन्द परमहंस था। ये गुप्त आश्रम "ज्ञानगंज" से सम्बन्धित एक उच्चकोटि के महापुरुष हैं। इनकी कृपा से और इनके ही साथ भोलानाथ आकाशमार्ग से ज्ञानगंज गये। यात्राकाल में परमहंस जी ने

भोलानाथ के नेत्र कपड़े से आवरित कर दिये थे। इतने पर भी भोलानाथ को यह प्रतीत हो रहा था कि जैसे वायुमण्डल में वायु की लहरों का भेदन करते हुये वायु-यान चलते हैं, वैसे ही महापुरुष का हाथ पकड़े हुए वे **भी** चलते जा रहे हैं। गन्तव्य पर पहुँचते ही परमहंस जी ने इनके नेत्रों पर लगा कपड़े का आवरण खोल दिया। आखें खुलने पर भोलनाथ देखते हैं कि चारो ओर उत्तुंग पर्वतमाला नील मेघराशि के समान शोभित है। बीच-बीच में निर्झरिणी और पहाड़ी नदी झंकार के साथ बह रही है। उपत्यकाओं के बीच में प्राय: ७-८ मील की घाटी में एक विशाल आश्रम स्थित है। आश्रम के चतुर्दिक प्राकार (Boundry) आवेष्ठित है। प्राकार के चारों ओर जलपूर्ण झील बह रही है। बाहर के साथ यातायात के लिये झील के उपर एक धनुषाकृति सेतु निर्मित है। आश्रम की व्यवस्था स्तरानुरूप सज्जित है। शिक्षा के क्रम के अनुसार उनका स्तर विन्यास है। वहां योग तथा विज्ञान की शिक्षा व्यवस्था अत्यन्त चमत्कारी कही जा सकती है। विज्ञान विभाग स्वतंत्र है। उसके अधिष्ठाता है श्रीमत् श्यामानन्द परमहंस। आश्रम के मुख्य अधिष्ठाता हैं श्रीमत् ज्ञानानंद—परमहंस।

यह स्थान अत्यन्त प्राचीन है। इसका प्राचीन नाम था इन्द्रभवन। प्राय: ५०० पूर्व इस प्राचीन स्थान का संस्कार करके पूज्यनीय ज्ञानानन्द स्वामी ने इसकी व्यवस्था तथा संरक्षण का भार ग्रहण किया है। वे अब भी इसके सहायक अधिष्ठाता के रूप में विराजित हैं। यहाँ वहुसंख्यक लोग अवस्थित हैं। उनमें निम्नलिखित श्रेणी उल्लेखनीय है :—

(क) ब्रह्मचारी युवक
(ख) कुमारी (ब्रह्मचारिणी)
(ग) विज्ञान शिक्षार्थी
(घ) सिद्ध परमहंस

इस श्रेणी के महात्माओं की संख्या कम नहीं है। इनकी आयु भी अत्यधिक है। इतनी अधिक है कि कहने से विश्वास नहीं होगा। २००-३०० से लेकर सहस्त्राधिक वर्ष के लोग भी विद्यमान हैं। सिद्ध महापुरुषों में से अनेक आहार भी नहीं करते। जो इतने उन्नत नहीं हैं, वे मात्र किंचित आहार करते हैं।

भोलानाथ को ९-१० दिन पश्चात् पूज्यपाद नीमानन्द स्वामी अपने गुरुदेव श्रीमत् महातपा के पास ले गये। यह विख्यात है कि उनकी आयु १२०० वर्ष से भी अधिक है। वे अत्यन्त शक्तिशाली महायोगी हैं। वे साधारणत: उक्त योगाश्रम में नहीं रहते। उनका कोई भी आश्रम नहीं है। तिव्वत के जिस स्थान में वे रहते हैं, वहाँ एक प्रच्छन्न गुफा है। उसमें राजराजेश्वरी देवी की पाषाणमूर्ति स्थापित है। अत:

इस गुफा को राजराजेश्वरी मठ कहा जाता है। वास्तव में यहाँ घर-मकान जैसा आश्रम नहीं है। यहाँ जो हैं, उन्हें घर-मकान की क्या आवश्यकता ? महर्षि महातपा अधिकांश समय यहीं रहते हैं। कदाचित् ही ज्ञानगंज आते हैं। कभी-कभी अपनी गुरुमाता क्षेपा मां के पास मनोहरतीर्थ में जाते हैं। इस हिमवत् प्रदेश में ऐसे ही अनेक योगाश्रम हैं। सभी राजराजेश्वरी मठ के शासनाधीन हैं। महर्षि महातपा अधिक कथा वार्त्ता साधारणतः नहीं कहते। सर्वदा अपने आप में विलीन रहते हैं। उनके प्रधान शिष्य श्रीमत् भृगुराम परमहंसदेव इन सभी मठों के प्रधान अधिष्ठाता, कार्यकर्त्ता हैं। वे ही परिदर्शक, नियामक तथा परीक्षक हैं। वे ही सब कुछ हैं। परमहंस नीमानन्द तथा श्यामानन्द एवं ज्ञानानन्द तथा भृगुरामदेव परस्परतः गुरुभ्राता हैं, तथापि योगैश्वर्य में भृगुरामदेव 'एकमेवाद्वितीयम्' अद्वितीय हैं।

महर्षि महातपा ने भोलानाथ को मन्त्र प्रदान करके शिष्यरूप में ग्रहण किया था। इस ज्ञानगंज आश्रम की शिक्षा प्रणाली अति विचित्र है। परमहंस श्यामानन्द से भोलानाथ सूर्य विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करते और भृगुरामदेव से योगशिक्षा ग्रहण करते। स्वामी भृगुराम परमहंसदेव सदा आकाश मार्ग से यातायात करते हैं। वे कभी भी भू-स्पर्श नहीं करते। स्थूल देह के साथ सूर्यलोक जाने की क्षमता एकमात्र उनमें ही है। यद्यपि यह सत्य है कि उनका स्थूल शरीर हमारे देह के समान पांचभौतिक तथा षट्कौषिक नहीं है। वह सिद्धदेह है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि दिव्यदेश लीलाभूमि है। वहाँ है भगवत् लीला। लीला होने पर ही अन्तर्मुखी गति खुलती है। बाहर लीला नहीं हो सकती, वहाँ माया आ जाती है। यह दिव्य जगत् है। यहाँ प्रेम, लीला सब है। काल का परिणाम नहीं है। संकोच नहीं है, आकांक्षा नहीं है।

ज्ञानगंज में सिद्ध भैरवी उमा मां, श्यामा मां तथा आदि माँ की भी स्थिति है। ज्ञानगंज में स्थित भैरवी तथा वामाचार अथवा कौलाचार में वर्णित भैरवी में व्यापक भेद है। ज्ञानगंज में जो भैरवी सत्ता है, वह मातृभाव साक्षात्कृत तथा मातृभाव से ओतप्रोत सत्ता है। उमां मां, श्यामा माँ तथा आदि माँ भी सत्तानुक्रमानुसार प्रतिष्ठित हैं। आदि माँ सर्वोच्च स्थिति है। उमां माँ कुमारी रूपा हैं, और श्यामा माँ के अन्तर्गत् दोनों का संधिस्थल है। महायोगी विशुद्धानन्द ने इन तीनों की सत्ता का साक्षात्कार किया था। इन तीनों की शक्ति तथा सामर्थ की इयत्ता नहीं है। इनकी गति अप्रतिहत है। इनका कार्य है जिज्ञासु साधकों की रक्षा तथा उनकी अग्रगति का निरीक्षण। इस धारा से सम्बन्धित प्रत्येक व्यक्ति तथा उसके परिवार के हितसाधनार्थ उमां माँ तथा श्यामा माँ के तत्वावधान में विविध अनुष्ठान तथा महती योग प्रक्रिया चलती रहती है।

आदि माँ को आदिशक्ति स्वरूप जानना चाहिये। इनसे जिनका स्फुरण सम्भव हो सका है वे हैं श्यामा माँ अर्थात् कर्मशक्ति। जिनके कारण आदिशक्ति से श्यामा माँ (कर्मशक्ति) का आविर्भाव हुआ है वे हैं उमा माँ अथवा ज्ञानशक्ति। इनसे ही प्रणव का शब्द निर्गत हुआ है, प्रणव अर्थात् विश्वव्यापी आर्त्तना, जिसे ॐ माँ कहते हैं। ज्ञानगंजरूप ज्ञानराज्य में इस "ॐ माँ" ध्वनि का निरन्तर उन्मेष होता रहता है। वह महाशब्द इस चतुर्दश भुवन का अतिक्रमण करते हुये इस मर्त्यधाम तक आ रहा है, परन्तु यहाँ इसका यथार्थ धारक न होने से पुन: स्वकेन्द्र रूप ज्ञान-राज्य में प्रत्यावर्त्तित हो जा रहा है।

यहाँ जिस ज्ञानगंज का विवरण प्रस्तुत किया गया है, वह ज्ञानगंज होते हुये भी ज्ञानगंज का आभासमात्र है। प्रकृत ज्ञानगंज की स्थिति इससे सूक्ष्म है। वह सृष्टि से ऊर्ध्व होते हुये भी सृष्टि के स्तरानुरूप अनेक स्तरों में विन्यस्त भी है, तथापि मूलत: उसका तत्व स्तरातीत है। यह स्तराभास होता है, द्रष्टा के भेद से। जिसे जैसा अधिकार प्राप्त है अथवा जो जिस भूमि पर्यन्त उन्नति प्राप्त कर सका है, वह उसे तदनुरूप ही देख सकने में समर्थ होता है। अत: यह स्तर भेद ज्ञानगंज में नहीं है। यह स्तर भेद द्रष्टा की दृष्टि का स्तरानुक्रम ही है। प्रकृत ज्ञानगंज पूर्ण एवं समग्र सत्तारूप ही है। विशिष्ट शक्ति का विकास होने पर ही इसका संधान प्राप्त हो सकता है। विशिष्ट विकास के साथ-साथ यहाँ के अधिष्ठातृ वर्ग की अनुज्ञा प्राप्त करना भी आवश्यक है। भेददृष्टि रहने तक प्रत्येक स्तरों में भिन्न-भिन्न अधिष्ठातृ वर्ग से सम्पर्क होता है अर्थात् जो एक स्तर का अधिष्ठाता है, वह अन्य स्तर का अधिष्ठाता नहीं है। ये सभी स्तर तथा अधिष्ठातृवर्ग परस्परत: एक दूसरे से सम्बद्ध रहते हैं। प्रत्येक स्तर तथा वहा के अधिष्ठातृवर्ग का अलग-अलग वैशिष्ट्य विद्यमान रहता है। मायिक स्तर में तथा माया से उर्ध्वतन स्तर में भी ऐसे ही स्तर समूह विन्यस्त रहते हैं।

स्तर के अनुरूप ही उनमें तत्त्वसत्ता की प्रतीकात्मिकता विद्यमान रहती है। किसी स्तर में तेजतत्व है, किसी में वायुतत्व है, किसी में जल एवं पृथ्वी की सत्ता है। यद्यपि ये सभी तत्व इस पृथ्वी में भी विद्यमान हैं तथापि इस पृथ्वी में इन तत्वों के चेतन स्वरूप (इनके अधिदेवता) की सत्ता भी जड़भावापन्न रहती है, परन्तु ज्ञानगंज के अन्तर्गत् ये सब महाभूत अपनी चेतन सत्ता के साथ विद्यमान रहते हैं। अत: इनका मध्याकर्षण समाप्त हो जाता है। कारण यह है कि इसका गठन लोक स्रष्टा की सृष्टि के रूप में (सृष्टि के आदिकाल में) नहीं हुआ है। जैसे ध्रुवलोक ध्रुव की तपस्या से गठित है, सुखावती पुरी अनास्त्रव धातु से, अमिताभ बुद्ध की विशुद्ध शक्ति के प्रभाव से संगठित है, उसी प्रकार ज्ञानगंज भी योगी विशेष की तीव्रतम साधना के प्रभाव से विश्वकल्याणार्थ विरचित है। इन विभिन्न सिद्धभूमि

समूह की रचना विभिन्न परिस्थिति तथा क्रिया के प्रयोजनानुसार हुई है। इनमें सिद्धभूमि तथा दिव्यभूमि का भेद भी विद्यमान रहता है। गोलोक, विष्णुलोक, नित्यवृन्दावन प्रभृति को दिव्यभूमि कहते हैं। ज्ञानगंज, सुखावती, सिद्धाश्रम आदि सिद्धभूमि हैं। दिव्यभूमि में साधना नहीं है, परन्तु ज्ञानगंज साधना स्थली है। दिव्यभूमि में स्थित आत्मायें सृष्टि के दुःख का अवलोकन नहीं कर सकतीं। उनकी दृष्टि में दुःख की सत्ता ही नहीं रहती। सिद्धभूमि में स्थित महायोगी एवं योगी तथा साधक सृष्टि के दुःख का अवलोकन करते रहते हैं। वे सतत् करुणार्द्र रहते हैं। उनकी साधना का लक्ष्य होता है जगत् सृष्टि में दुःखरहित अमर राज्य की स्थापना हेतु प्रयत्नशील रहना।

ज्ञानगंज में योगदृष्टि के अनुसार त्रिस्तर उपलब्ध होते हैं। प्रथम में महाभाव पर्यन्त का क्षेत्र अन्तर्भुक्त रहता है। यह गुरुधाम भूमि है। खण्ड योगी लक्ष्य प्राप्ति में इसे ही प्राप्त करते हैं। इसे प्राप्त करने के पूर्व ही देहपात (मृत्यु) हो जाने पर तदनुरूप क्षेत्र की प्राप्ति होती है। अर्थात् जहाँ तक पथ अतिक्रांत हुआ रहता है, वहीं तक गुरुधाम में स्थिति प्राप्त होती है। स्थूल देहावस्थान काल में कर्म क्षिप्रगति से सम्पन्न होता है। देहत्याग के अनन्तर क्षिप्रगति से कर्म कर सकना संभव ही नहीं हो सकता। द्वितीय स्तर महाभाव से भी अतीत की अवस्था है। यह सूर्यमण्डल से भी उर्ध्व की स्थिति है। महाखण्ड योगी क्रिया निवृत्ति के अनन्तर इसे प्राप्त करते हैं। इस स्थिति में भी यदि क्रिया निवृत्ति (देहावस्थान काल में) नहीं हो सकी है, उस अवस्था में ज्ञानगंज में रहकर क्रिया पूर्ण करना पड़ता है। तृतीय स्तर के सम्बंध में अधिक कह सकना संभव नहीं है। इसकी भूमि तथा लक्ष्य है विश्वगुरु। इसका क्षेत्र है अखण्ड विश्व।

ये तीनों क्षेत्र (स्तर) कर्मस्थान हैं। प्रथम की परिधि विशाल है। काल का राज्य इस परिधि के बाहर अवस्थित रहता है। द्वितीय स्तर की परिधि तुलनात्मक रूपेण और भी विस्तृत है। इसके फलस्वरूप तथा प्रभाववशात् काल राज्य संकुचित (छोटा) प्रतीत होने लगता है। तृतीय स्तर की परिधि समग्र विश्व अथवा जगत् है। यहाँ पर कालराज्य शून्यवत् प्रतीत होता है। इन तीनों स्तरों में कर्म की तीव्रता उत्तरोत्तर तीव्र होती जाती है। प्रथम से द्वितीय में और द्वितीय से तृतीय में कर्म का प्रभाव अधिक है। तृतीय स्तर सूर्यमण्डल से परे है, अतः वहाँ उन्नीत होने के लिये सूर्यमण्डल का भेद करना ही पड़ता है। इसी के साथ यह भी उपलब्धि होने लगती है कि गुरु की करुणा अपेक्षाकृत रूप से प्रथम से द्वितीय स्तर में अधिक है। द्वितीय स्तर की तुलना से तृतीय स्तर में गुरु की करुणा अत्यधिक हो जाती है। इसे ही महाकरुणा कहते हैं। यह केवल तृतीय स्तर में ही अनुभूत होती है।

यद्यपि उक्त तीनों स्तर काल से अतीत हैं, तथापि प्रथम तथा द्वितीय स्तर के बाहर काल का आवर्त्त विद्यमान रह जाता है। तृतीय स्तर की अभिव्यक्ति के साथ-साथ कालराज्य की कोई भी पृथक् सत्ता अवशिष्ट नहीं रह जाती। प्रथम तथा द्वितीय स्तर के साथ कालराज्य का समसूत्र रहता है। अर्थात् कालराज्य पृथक् रूप से अवभासित होता रहता है और कालराज्य के प्राणी प्रथम एवं द्वितीय स्तर के साधकों की इच्छा होने पर वहाँ यातायात करने में समर्थ हो जाते हैं। इतने पर भी प्रथम तथा द्वितीय स्तर में कालराज्य का कोई भी प्रभुत्व एवं कार्यकारित्व नहीं रहता। प्रथम तथा द्वितीय स्तरों में भी अनेक स्तर विद्यमान रहते हैं। अधिकारी भेद से इन स्तरों का गठन तथा अनुभव होने लगता है। प्रथम स्तर की सर्वातिनिम्न भूमि में काल का किंचित प्रभाव दृक्गोचर होता है। उर्ध्वभूमि में यह ह्रासोन्मुख हो जाता है। तृतीय स्तर में काल की सत्ता भिन्न रूप से नहीं रह सकती। वह तृतीय स्तर के आकर्षण के प्रभाव से उसमें विलीन हो जाती है। अतएव वह अन्तः प्रविष्ट रूप से क्रिया करता रहता है। यह अन्तः प्रविष्ट क्रिया परिपूर्णता की प्राप्ति के हेतु आवश्यक है। जब काल बाहर से क्रिया करता है, तब वह जीवसत्ता को अभिभूत एवं ग्रसित करने में समर्थ हो जाता है, परन्तु जब स्तर के आकर्षण से काल की सत्ता अन्तर्लीन हो जाती है, तब कालसत्ता जीवसत्ता को अथवा तृतीय स्तर को अभिभूत नहीं कर सकती। तब काल ही क्षण रूप होकर जीवसत्ता को पूर्णत्वगामी बनाने लगता है।

काल का स्वभाव है जन्म-मृत्यु। विकास क्रिया के कारण शिशुदेह वृद्धावस्था से आक्रान्त होकर जरा रूप हो जाता है। यह काल का ही प्रभाव है' काल राज्य में कोई भी जरा से मुक्त नहीं हो सकता। इसका अपर धर्म है मृत्यु। यह सर्वत्र प्रसारित है और कालराज्य का प्रधान रूप है। इसी कारण इस जगत सृष्टि को मरलोक अथवा मृत्युलोक कहा जाता है। अतः काल की सीमा से परे जिस राज्य का भी गठन होगा, वहां जरा-मृत्यु का प्रभाव नहीं रह सकता। काल राज्य का दूसरा प्रधान धर्म है क्षुधा-पिपासा ! शुद्धसृष्टि में (ज्ञानगंज मे) इन दोनों का तिरोधान होना आवश्यक है। कालराज्य का एक और प्रधान धर्म है कामवृत्ति। कामवृत्ति के कारण उससे सम्बद्ध अन्यान्य वृत्तियां भी उदित हो जाती है। शुद्ध-राज्य क्षुधा-पिपासा, कामवृत्ति से रहित है। वहां क्षुधा-पिपासा के स्थान पर स्वभाव की तृप्ति तथा काम के स्थान पर प्रेम का आविर्भाव होने लगता है।

मर जगत् के उर्ध्व में अनेक स्वर्गीय गुणयुक्त भुवन समूह तथा भोगप्रधान स्तर विद्यमान रहते हैं। भोग प्रधान होने के कारण वहां निवृत्ति नहीं है। वहां काम का अभाव और भोग की निवृत्ति नहीं है। इतने पर भी वहां पर काल का वेग अन्य प्रकार का होता है। वहां जरा का अनुभव नहीं है, तथापि काल के कारण देहपात

हो जाता है (स्वर्गच्युति हो जाती है)। ये सभी स्थान कर्मभूमि नहीं कहे जा सकते। इन्हे भोगभूमि कहा जाता है, अतः इनका कोई भी मूल्य नहीं है। ज्ञानगंज प्रभृति स्थल अत्यन्त विशुद्ध स्थान हैं। विशुद्ध कर्मभूमि रूप हैं। वहां भोगाधिपत्य नहीं है। ज्ञानगंज के जिस निम्नस्तर में काल का किंचित प्रभाव है, वहां मृत्यु नहीं है, तथापि जरा का प्रभाव विद्यमान रह जाता है। स्वर्गादिलोक जरा वर्जित होने पर भी आपेक्षिक मृत्यु वर्जित नहीं हैं। इसी तरह ज्ञानगंज का निम्नस्तर मृत्यु वर्जित है। तथापि जरा वर्जित नहीं है। दूसरे उर्ध्वस्तर में तो जरा और मृत्यु, दोनों का सर्वथाभाव है। निम्नस्तर के योगीगण सहस्त्र वर्ष व्यापी तपस्या करके वृद्धत्व को प्राप्त होते हैं, तथापि उस जरा जीर्ण देह के द्वारा ही निरन्तर तपस्या करते हैं। इससे उन्हे उर्ध्वस्तर की प्राप्ति हो जाती है। उस स्थिति मे उनका जराजीर्ण देह किशोर अथवा तरुण हो जाता है। वह दिव्य-लावण्यमय श्री विग्रह के रूप में परिणति प्राप्त करता है। गुरुधाम तथा ज्ञानगंज की यह विशिष्टता है।

ज्ञानगंज का सिद्धसमूह

काशी हिन्दु विश्वविद्यालय के अध्यायक जीवनशंकर जी याज्ञिक ने विश्व विद्यालय के ग्रंथालयस्थ अनेक मानचित्रों में ज्ञानगंज का सन्धान प्राप्त करने का बहुश: प्रयत्न किया था, तथापि उन्हे ज्ञानगंज का सन्धान उन मानचित्रों में प्राप्त नहीं हो सका। इसका यह भी कारण हो सकता है कि ज्ञानगंज संस्कृत शब्द है। तिव्वतीय लोग मानस सरोवर को संस्कृत नाम से नहीं जानते। वे मानस सरोवर को त्सोमवांग अथवा त्सो माफाम् कहते हैं। उनके लिये रावणकुण्ड लांगाक्तसो है। कैलाश को वे लोग डेमछोक कहते हैं। ज्ञानगंज का जो कुछ भी नाम तिव्वती भाषा मे हो, वह अविज्ञात है।

श्री विशुद्धानन्द परहंसदेव कहा करते थे कि स्थूलरूप से ज्ञानगंज जाने के लिये जलंधर से गोगा तक यान-वाहन प्राप्त होता है। उसके पश्चात् पैदल का दो मांह का रास्ता है। मार्ग मे स्थान-स्थान पर रूकने के स्थान हैं, जहां भोजन के रूप में दही तथा चिवड़ा पाया जाता है। रास्ते मे बरफ है, कहीं इतनी नर्म वरफ का आच्छादन है जिसमें पैर भी धसने हैं। अतः वहां बरफ पर चलने के लिये एक प्रकार का जूता बिकता है। उस समय उस जूते के जोड़े का दाम मात्र साढ़ेतीन आना था। ज्ञानगंज में अनेक ब्रह्मचारी, सन्यासी, तीर्थस्वामी, भैरवी, परमहंस, ब्रह्मचारिणी तथा कुमारी समूह परिलक्षित होते हैं। वहां किसी वाहरी व्यक्ति को नहीं

रहने देते। वहां अनेक प्रकार से नानाविध विज्ञानों का प्रशिक्षण दिया जाता है। विशुद्धानन्ददेव के पैर की उगली बाल्यावस्था में कट गयी थी। ज्ञानगंज में एक यंत्र के द्वारा उस उगली को पुन: ठीक कर दिया गया। विशुद्धानन्द जी ने एक मारवाड़ी को उसकी कन्या के साथ ज्ञानगंज भेजा था। कन्या वयस्का थी, परन्तु उसके यौवनचिन्ह उद्गत् नहीं थे। ज्ञानगंज की यांत्रिक तथा औषधि प्रक्रिया के द्वारा उसे यौवनचिन्ह से इस प्रकार भूषित कर दिया गया कि वह अत्यन्त रूपवती हो गयी। ज्ञानगंज में पूर्ण बधिर व्यक्ति को भी ठीक करने का यंत्र विद्यमान है। जब विशुद्धानन्ददेव ज्ञानगंज में थे, तब वहां महर्षि महातपा की १३०० वीं जयन्ती मनाई गयी। उनकी गुरुमाता उनसे भी अधिक वयस की हैं। उन्हे लोग क्षेपा माँ कहते हैं। क्षेपा मां मनोहरतीर्थ नामक एक स्वतंत्र स्थान में रही हैं। इतनी अधिक आयु होने पर भी क्षेपा मां चिरयौवन सम्पन्ना हैं। उनके कृष्णवर्ण बाल इतने अधिक बड़े हैं, जिससे उनका सभी अंग ढका रहता है। महर्षि महातपा दैहिक दृष्टि से अत्यन्त स्थूल होने पर भी तीव्रगति से चलते हैं। उनके ही समवयस्क हैं उनके गुरुभाई भवदेव गोस्वामी। वे वैष्णव हैं और ज्ञानगंज अथवा मनोहरतीर्थ में नहीं रहते। उनका निवास तिब्बत मे ही किसी दुर्गम एवं गुप्त स्थान में है।

महर्षि महातपा के शिष्यों में सर्वाधिक शक्तिसम्पन्न हैं भृगुरामदेव। उनकी आयु है ५०० वर्ष से भी अधिक। वे योगशिक्षा देते हैं। ज्ञानगंज में विज्ञान शिक्षा परमहंस श्यामानन्द देते हैं। ज्ञानगंज में विज्ञान निर्मित आकाशयान है। वह रात्रि में चन्द्रमा के समान आलोकित रहता है। ज्ञानगंज मे अभयानन्द स्वामी का निवास है। अभयानन्द जी कभी-कभी लोकालय मे भी आते हैं। ये साक्षात् महेश्वर के समान हैं। इनका चित्र मेरे पास अनुरक्षित है। कभी-कभी निमानन्द परमहंस तथा श्रीमत् उमानन्द परमहंस भी ज्ञानगंज से भारतवर्ष आते रहते हैं। निमानन्द स्वामी ने ही विशुद्धानन्द जी को बाल्यकाल में दर्शन देकर स्वस्थ किया था। ज्ञानगंज में एक और परमहंस ज्ञानानन्द निवास करते हैं। इन्हें कुतूपानन्द भी कहा जाता है। इनको थियोसाफिस्ट लोग कुथुमी बावा के नाम से जानते हैं। कुथुमी बावा मैडम ब्लैवेटस्की के गुरु थे। इनकी आयु भी ५०० वर्ष से अधिक है। इनको मैडम ब्लैवेटस्की तथा कर्नल अल्काट ने भी देखा था। इसके अतिरिक्त ज्ञानगंजस्थ सिद्धसमूह का जो वर्णन प्राप्त होता है उनमें उमानन्द, धवलानन्द परमानन्द तथा रामानन्द भी उल्लेखनीय हैं। भैरवी समूह में उमा भैरवी, श्यामा भैरवी, त्रिपुरा भैरवी. आनन्द भैरवी, ज्ञानभैरवी का विवरण श्री श्री विशुद्धानन्ददेव बतलाया करते थे। भैरवी माताओं की आयु भी ४००-५०० वर्ष तक है।

इन महान् आत्माओं को भोजनादि का भी प्रयोजन नहीं रहता। इनकी गति अबाध है। ये मोटी से मोटी शिलाओं मे भी प्रवेश करके उस पार जा सकते

हैं। दूर-निकट, सब कुछ उनके लिये हस्तामलकवत् है। देश तथा काल इन्हें अवरुद्ध नहीं कर सकते। यहां के सिद्धों में ज्ञान तथा भक्ति का अपूर्व संगम विद्यमान रहता है। कोई विज्ञान पथ का पथिक है, कोई योगपथ का, किसी में दोनों पथ का अपूर्व सम्मिलन है।

ज्ञानगंज के अन्तर्गत एक उच्चस्तर है भार्गवीपुरी। यह भोगधाम नहीं है। यह भृगुरामदेव परमहंस की महान् शक्ति से गठित है। जब तक मृत्युराज्य का अवसान नहीं हो जाता और समस्त विश्व में अमर राज्य की स्थापना नहीं हो जाती, तब तक अखण्ड महायोग के पथिकगण मृत्यु से ग्रसित होते रहते हैं। इनके रक्षण के लिये भार्गवीपुरी की सूक्ष्मसत्ता का गठन हुआ है। सामान्यत: मृत्यु के अनन्तर जीवात्मा को कर्मफलभोग के लिये उर्ध्व एवं अध: लोकों का परिक्रमण करना पड़ता है, जिसमें पुन: जन्म, पुन: मृत्यु का अविराम चक्र चलता ही रहता है। जीवात्मा अनन्त ब्रह्माण्डरूपी महा समुद्र में इत:स्तत: खो जाता है। उसे ढूढ़ पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। अत: अखण्ड महायोग के पथिकों के लिये भार्गवीपुरी की व्यवस्था की गयी है। वे मृत्यु के अनन्तर इस विशाल सृष्टि में इत:स्तत: बिखरने से बच जाते हैं और वे जीवात्मा समूह भार्गवीपुरी में सूक्ष्मदेहावस्था में विद्यमान रहकर अपना शेष कर्म पूर्ण करते हैं। इससे ये जीवात्मारूपी अणुसमूह अखण्ड महायोग की धारा से पृथक् नहीं होते। स्वर्गादिलोक भोगभूमि हैं। वहाँ कर्म को स्थान नहीं है। कर्म-भोग समाप्त होते ही वहाँ से पतन हो जाता है, परन्तु भार्गवीपुरी कर्मस्थान है। वहाँ से च्युति की कोई सम्भावना ही नहीं रहती। वहाँ भी जीवात्मारूपी अणुसमूह अखण्ड महायोग के पथ पर अग्रसर होते रहते हैं।

सिद्धभूमि का रहस्य

जो भारत की आध्यात्मिक साधना से परिचित हैं, उन्हें विदित है कि साधना का चरम लक्ष्य है पूर्णत्व की प्राप्ति। यह भी दृष्टिभेदानुसार अनेक प्रकार से विवेचित होता है। कई साधक ज्ञान के पथ का अथवा योगपथ का अवलम्बन लेकर अग्रसर होते हैं। जीवनमुक्ति प्राप्त करना ही उनका लक्ष्य रहता है। देहान्त के अनन्तर चरम लक्ष्य हैं परामुक्ति। परामुक्ति भी साधक की दृष्टि में विभिन्न प्रकार से प्रतिभात होती रहती है। किसी के अनुसार साधना की पूर्णता के अनन्तर सिद्धावस्था की प्राप्ति ही जीव का प्रकृत लक्ष्य है। इसी कारण हमारे देश में आबाल-वृद्ध-वनिता सिद्ध महापुरुष के ऊपर स्वाभाविक श्रद्धा करते रहते हैं। प्राचीन काल के ८४ सिद्धों का वर्णन मिलता है। यह एक समय विशेष की बात है। इसके अतिरिक्त भी यह सुविदित है

कि अनेक काल में अनेक स्थान पर अनेक सिद्धपुरुष आविर्भूत होते रहते हैं। इनका आविर्भाव भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में होता रहता है। ये अतिशय शक्तिशाली महापुरुष हैं। इनके द्वारा जड़ जगत् तथा चिन्मय जगत के मध्य में, अन्तराल में एक सेतु अथवा संयोजन का सुयोग प्राप्त होता है।

इस समय मैं सिद्धपुरुषों के सन्दर्भ में कुछ न लिखकर सिद्धभूमि के सम्बंध में कुछ वर्णन करना उचित समझता हूँ। सिद्ध की बातें तो सभी जानते हैं, परन्तु सिद्धभूमि शब्द उतना सुपरिचित नहीं है। इस सम्बन्ध में यह शंका हो सकती है कि सिद्ध तो हो सकते हैं, भूमि कैसे सिद्ध होती है? इस प्रश्न की मीमांसा के पूर्व यह वर्णन करना आवश्यक है कि सिद्ध होने से क्या परिलक्षित होता है? दुःख का विषय है कि इस प्रसंग के प्रति यथार्थ धारणा अत्यल्प व्यक्तियों में जागृत हो सकी है। अतः सिद्धप्रसंग के पूर्व सिद्धभूमि के सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक प्रतीत होता है।

आत्मा तथा देह, इन शब्दद्वय से हम सभी सुपरिचित हैं। हम जानते है कि आत्मा चैतन्य स्वरूप, नित्य, विभु तथा शुद्ध है, परन्तु देह मायिक, अनित्य एवं परिवर्तनशील है। वह विकार ग्रस्त तथा मलिन भी है। देह को साधरणतः पांचभौतिक उपादन निर्मित पिंड विशेष कहते हैं। यहां स्थूल देह के अतिरिक्त सूक्ष्म देह भी अवस्थित है। यह स्थूलदेह से पृथक होने पर भी शुद्ध तथा नित्य नहीं है। स्थूलदेह के अतिरिक्त शास्त्रों में कारण देह का भी उल्लेख प्राप्त होता है। कारणदेह की तुलना में सूक्ष्म तथा स्थूलदेह उसके कार्य हैं। अनेक विद्वान् सूक्ष्मदेह को सप्तदश अवयव सम्पन्न लिंग शरीर के रूप में स्वीकार करते हैं। किसी के मत से वह प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय कोषों का मिलित अस्तित्व है। केवल दृष्टिभेद से यह पृथकत्व अनुभूत होता है। मृत्यु के अनन्तर साधारणतः लोग स्थूलदेह का त्याग करके सूक्ष्म या लिंगदेह में कर्मानुरूप सन्चरण करते हैं। इसी संचरण के समय वे फल भोग के लिए किसी विशिष्ट लोक अथवा स्थान में अवस्थान भी करते हैं। तदनन्तर अवशिष्ट कर्मफल का भोग मानव देह में करने के लिए विवश हो जाते हैं। इसी प्रकार सूक्ष्मदेह के साथ कारणदेह का भी सम्बन्ध रहता है। सामान्यतः जैसे स्थूलदेह की पृष्ठभूमि में सूक्ष्मदेह की सत्ता है, उसी प्रकार सूक्ष्मदेह की पृष्ठभूमि में कारण-देह अवस्थित रहकर सूक्ष्मदेह को कार्यक्षम बनाता है। उपयुक्त अवसर आने पर सूक्ष्मदेह से भी कारणदेह पृथक् हो जाता है। तदनन्तर यह कारणदेह अवस्थानुसार पुनः सूक्ष्म के साथ युक्त होता है, अथवा बिना युक्त हुये रह जाता है। अवस्थागत वैचित्र्य अनन्तात्मक हैं। इस वैचित्र्य को भी मायिक ही कहा जाता है।

विज्ञजनों का यह भी कथन है कि कारणदेह के अनन्तर देह की सत्ता ही नहीं रह जाती! यद्यपि यह सत्य ही है, तथापि कारणदेह के अनन्तर भी महाकारण

देह विद्यमान रहती है। ये चारो देह जड़देह ही हैं। पार्थक्य इतना ही है कि स्थू सूक्ष्म तथा कारणदेह अशुद्ध त्रिगुणात्मक हैं। महाकारण देह जड़ होने पर भी अशु नहीं है। वह विशुद्ध सत्तात्मक है। उसमें रजोगुण तथा तमः का संस्पर्शमात्र भ नहीं रहता।

यह सुनकर आश्चर्य होगा कि अनेक अग्रगामी योगीगण यह अनुभव करते कि महाकारण देह भी दैहिक सत्ता का अन्त नहीं है। महाकारण देह के पश्चात साकार सत्ता नहीं रह जाती। चिन्मय देह अचित् स्पर्श से रहित है। वह एक प्रका से महाकारण देह से परवर्ती है, तब भी साधारण योगी चिन्मय देह पर्यन्त अग्रस नहीं हो सकते। चित् किस प्रकार से देहरूप में प्रतिभासमान है, अथवा देह कं किस प्रकार से चिन्मयत्व प्राप्त होता है, यह तो योग साधना का अत्यन्त गम्भी रहस्य है।

सन्तों का कथन है कि यद्यपि यह चिन्मय देह कैवल्यात्मक है, तथापि इसक एक परावस्था भी है। यह परावस्था ही हंसावस्था है। (यह शब्द सम्प्रदाय विशे की परिभाषा है) इस उक्ति का तात्पर्य यह है कि पूर्ण सत्य को तत्वरूपेण विभक्त करने पर तत्व एवं तत्त्वातीत रूपी दो अवस्थाओं का ज्ञान होता है। तत्व के अंतर्ग चित् एवं अचित्, उभय सत्ता का समावेश होता है। अतः जिस प्रकार से चिन्मय दे तात्विक देह है, उसी प्रकार जड़देह भी तात्विक देह ही है। जड़देह भी शुद्ध तथ अशुद्ध रूप से दो प्रकार का है। शुद्ध जड़देह को कारणदेह कहते हैं। अशुद्ध जड़दे कारण एवं कार्य भेद से द्विविध है। कार्यदेह सूक्ष्म तथा स्थूल भेद से द्विविध कह गयी है।

पूर्वोक्त विश्लेषण से यह ज्ञात हो जाता है कि पूर्ववर्णित चिन्मय देह पर्यन्त सभ देह तात्विक देह हैं। जिस देह में शुद्ध तथा अशुद्ध तत्व का तादात्म्य सिद्ध होता है अथच जो तत्वातीत आत्मस्वरूप के साथ अभिन्न है, उसे हंसदेह (हंसस्वरूप) कहा जाता है। इसमें सब कुछ है। शुद्ध है, अचित् है, चित् है। सभी तत्व है, अथच यह तत्वातीत भी हैं। यह देह होने पर भी आत्मा ही है और आत्मा होने पर भी दे ही है। अर्थात् तत्वरूपेण यह देह है और तत्वातीत रूप से यह आत्मा है। इस अव स्था की प्राप्ति का नाम है देह साधना।

इस लेख में जो अलोचित हो चुका है, उससे यह स्पष्ट हो जात है कि एक प्रकार से कैवल्यावस्था को भी देहरूप से परिगणित किया गया है। अत कैवल्यस्थिति स्थूल-सूक्ष्मादि से मुक्त अवस्था का नाम है। दृष्टिभंगी की भिन्नता कैवल्यस्थिति को ही कैवल्यदेह भी कहा जा सकता है। किसी-किसी वैष्णव सम्प्रदाय में स्वरूप देह का भी वर्णन प्राप्त होता है। यह भी सत्य है। इस दृष्टि से जैसे स्वरू को सच्चिदानन्द रूप में प्राप्त किया जाता है, उसी प्रकार स्वरूपदेह रूप में भी उसे ही प्राप्त किया जाता है।

योगसाधन पथ में वैचित्र्य भरा है। इस वैचित्र्य में ऐक्य का आविष्कार (पूर्णता हेतु) आवश्यक है। आविष्कार शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया, क्योंकि ऐक्य का कोई नव-निर्माण नहीं करना है। यह ऐक्य अनादि काल से विद्यमान रहता है। वह आवरण के द्वारा आच्छन्न है। आवरित है, अतः प्रकाशित नहीं है। जब क्रमशः सब आवरण समाप्त हो जाते हैं, तभी अखण्ड अनावृत्त परमसत्ता आत्म-प्रकाश करती है। अब वैचित्र्य की प्रतीति नही रह जाती। आवरण के अन्तराल में स्थित अद्वैतसत्ता महाप्रकाश रूप से आवरण उन्मोचन के द्वारा स्फुरित होने लगती है। इस स्थिति में वैचित्र्य की प्रतीति नहीं रह जाती। यह महाप्रकाश ज्ञाननेत्र के रूप में महायोगी के सम्मुख आविर्भूत होता है। अब यही योगी को पूर्णत्वपथ पर अग्रसर करने में सहायक हो जाता है। अन्तकाल में (इसी के द्वारा) पूर्णत्व की प्रतिष्ठापना होती है। पूर्णत्व का अर्थ प्रकाश की प्राप्ति ही नहीं है, इसका तात्पर्य है कि प्रकाश के अतिरिक्त अन्य कुछ भी स्वरूप नहीं है। पूर्णत्व का तात्पर्य है कि प्रकाश एवं उसके द्वारा प्रकाशित जो कुछ भी है, उन सब का ऐक्य ! प्रकाश एवं प्रकाशक के मध्य शाश्वत अभेद है। प्रकाशमान समग्र विश्व भी पूर्ण सत्ता के ही अन्तर्गत है। पूर्ण की भी पूर्ण, अर्थात् परिपूर्ण सत्ता का तात्पर्य है अभेदत्व, भेदाभेद, एवं भेद की सभी स्थिति का सामरस्य। देश-काल आदि इसी के अन्तर्गत हैं। यह है परिपूर्ण सिद्धावस्था। अखण्ड सत्ता।

अब सिद्ध पुरुष प्रसंग के उपरान्त सिद्धभूमि पर्यालोचना का अवतरण किया जाता है। जैसे सिद्धपुरुष चित्, अचित्, कार्य, कारण, शुद्ध-अशुद्ध, सभी अवस्थाओं में, स्थूल-कारण आदि देहों में अव्याहत स्थित रह सकते हैं, तथापि अपनी विशिष्टता का संरक्षण भी कर लेते हैं, इसी प्रकार का नियम सिद्धभूमि के साथ भी कार्यरत है। देहसिद्धि के पश्चात् भूमिसिद्धि की आवश्यकता नहीं होती। देह की सिद्धि के साथ-साथ भूमि भी स्वयमेव सिद्ध हो जाती है। जैसे देह स्थूलभिमानी को स्थूलरूप से प्रतीत होता है, उसी प्रकार भूमि भी उसे उसी प्रकार से प्रतीयमान होती रहती है। जिसे अपना देह स्थूल प्रतीत होता है (अर्थात् जो स्थूलाभिमानी है) उसे यह जगत् स्थूलसत्तात्मक ही प्रतिभात होता है। जब पुरुष सूक्ष्मदेह की सत्ता का साक्षात् कर लेता है, तब उसे समस्त जगत सूक्ष्मसत्तात्मक प्रतिभात होने लगता है। इसी प्रकार जब पुरुष चिद्रूप में अवस्थित हो जाता है, उसमें स्थूल-सूक्ष्म आदि अचि-द्भाव नहीं रह जाता, तब उसकी दृष्टि में जगत् भी चिद्रूपेण विवेचित होने लगता हैं। यह योगीगण का स्वानुभूत सत्य है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि मूल द्रष्टा को एक अवस्था से अवस्थान्तर में संचरण करना ही होगा। इसके अभाव में उसकी दृष्टि के अनुरूप दृश्य जगत् की उपलब्धि नहीं हो सकती। यह समस्त अवस्था समूह पारस्परिक रूप से विच्छिन्न हैं। अतः एक अवस्था के साथ, अन्य अवस्था का

ऐक्य एवं योगसूत्र नहीं रह जाता। इसलिये महायोगी का लक्ष्य है ऐक्यसूत्र तथा योगसूत्र का आविष्कार करना। इस परम ऐक्यसूत्र का अनुसन्धान प्राप्त होने और उसमें स्थितिलाभ हो जाने पर तदनुरूप भाव में समग्र विश्व अभिन्नरूपेण आत्मप्रकाश करने लगता है। इसी अभिन्न सत्ता में प्रत्येक भूमि की पृथक् सत्ता विलीन रहती है। इसके प्रभाव से योगीगण जब भी जिस भूमि में दृष्टि निःक्षेप करते हैं, तब वह भूमि दृश्यसत्ता के रूप में आत्मप्रकाशन करने लगती है।

ऐसे योगी को किसी भी भूमि में अवतरण नहीं करना पड़ता और न तो किसी भूमि में आरोहण ही करना पड़ता है। वह आरोहण एवं अवतरण से निर्मुक्त द्रष्टा के समान सदा प्रतिभात होता रहता है। उसकी दृश्यभूमि भी आरोहण तथा अवतरण से पृथक् ही रहती है। यह साधारण सत्य स्मृति में रहना आवश्यक है। अन्यथा सिद्धभूमि का रहस्य अज्ञात ही रह जाता है।

सिद्धभूमि तत्व को सम्यक् रीति से जानने के लिये एक विशेष लक्ष्य रखना आवश्यक है। यह है सृष्टि का रहस्य। हम साधारण दृष्टि के अनुसार सोचते हैं कि बाह्य जगत् मूलतः ज्ञान की बहिर्दिशा में अवस्थित है। इन्द्रियादि करण वर्ग के द्वारा इसका सर्वत्र संस्त्रव संघटित होने पर उसकी सत्ता दृग्गोचर होने लगती है। अब हमारा ज्ञान उक्त जगत् के आकार में अपरंजित होता है, अथवा उक्त आकार को धारण करता है। ज्ञान की निम्नभूमि में यह अत्यन्त सत्य है। अर्थात् ज्ञान से ज्ञेय पूर्णतः पृथक् है। योगपथ पर अग्रसर योगी के लिये ज्ञान से ज्ञेय कदापि पृथक् नहीं रहता। ज्ञान का ही आकार ज्ञान से पृथक् ज्ञेयरूप में (सामान्य व्यक्ति के सम्मुख) प्रकट होता रहता है। ज्ञान तथा ज्ञेय में ज्ञान सापेक्ष नहीं है, ज्ञेय ही सापेक्ष है। इसके अनन्तर और अग्रसर होने पर यह अनुभव होता है कि जैसे ज्ञान से ज्ञेय पृथक् नहीं है, उसी प्रकार ज्ञाता से भी ज्ञेय अलग नहीं है। जैसे प्रदीप से आलोकरश्मि निर्गत होती है, उसी प्रकार ज्ञाता से ज्ञानरूपी आलोकमाला विकीर्ण होती रहती है।

ज्ञेय अन्तर्मुख अवस्था में लीन हो जाता है। और भी अन्तर्मुखीन अवस्था में ज्ञान भी ज्ञाता में विलीन हो जाता है। यह ज्ञाता सृष्टि के मूल में बीजरूपेण रहता है। यह भी जब ज्ञातृत्व धर्म से मुक्त होकर शुद्धावस्था में विद्यमान रहता है, तब इसी अवस्था को शाक्तगण तुरीयावस्था कहते हैं। यह है त्रिपुटी रहित विशुद्ध-विज्ञान की अवस्था। जो द्रष्टा की दृष्टि है और उसके अन्तर्गत जो दृश्य है, वही भोक्ता जीव को वाह्य सृष्टि के समान प्रतीत होता है। अतः मायिक प्रमाता को) वह वाह्यसृष्टि रूप में अथवा भूमिरूप में परिगणित होता है। इसी कारण ज्ञानगंज सामान्य व्यक्ति को किसी भूमि (भूखण्ड) के रूप में प्रतीत होता है। हमारा ब्रह्माण्ड हिरण्यगर्भ के वैराज्य अभिमान से अधीष्ठित है, उसी प्रकार सिद्ध योगी ऋषिगण अपने-अपने अहंभाव (अर्थात् जिस स्थिति तक वे पहुँच सके हैं,

उस स्थिति के ही अनुरूप) के कारण अपनी दृष्टि के सम्मुख भिन्न-भिन्न भूमि अथवा स्तर का प्रकाशन करते हैं।

जो व्यक्ति जिस सिद्ध के अभिमान से युक्त है, अथवा उसका आश्रित है, उसके लिये वह भूमि अथवा क्षेत्र दृकगोचर किंवा व्यवहार योग्य प्रतीत होने लगता है। वह भूमि अथवा क्षेत्र सबके लिये दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। यही नियम ज्ञानगंज के लिये भी समझना चाहिये। इसी कारण ज्ञानगंज भौगोलिक दृष्टि से सबके लिये प्राप्य, दृष्टिगोचर अथवा उपलब्ध नहीं है। जैसे हिरण्यगर्भ के अभिमान का प्रसाररूप ब्रह्माण्ड उनके प्रजावर्ग को वाह्य अथवा सत्यरूपेण प्रतीत होता है, उसी प्रकार समस्त सिद्धभूमि समूह, ऋषि की दृष्टि तथा अभिमान से आविर्भूत भूमि उनसे संस्पर्श युक्त व्यक्ति को बाह्य एवं सत्यरूप से अनुभूत होने लगती है। अन्यथा समस्त ब्रह्माण्ड के अणुसमूह का सन्धान करने पर भी उनकी उपलब्धि नहीं हो सकती। यद्यपि सिद्धभूमि अथवा ज्ञानगंज इस पृथ्वी की ही तरह व्यवहार योग्य एवं सत्य है, तथापि उसका भौगोलिक सन्धान (Geographical Location) नहीं मिल सकता। बौद्धों ने जिन बुद्ध क्षेत्रों की वर्णना का अंकन किया है, वे सभी इसी प्रकार की सिद्धभूमि हैं।

सिद्धभूमि की आलोचना से यह प्रकट हो जाता है कि सिद्ध आत्मसमूह की इच्छानुसार तदनुरूप सिद्धभूमियों का आविर्भाव होता है। प्रत्येक सिद्धआत्मा से इसी प्रकार की भूमि का आविर्भाव होता है, यह नहीं कहा जा सकता। इसके मूल में उन सिद्धआत्मा की भूमिसृष्टि विषयक इच्छा तथा इस इच्छा के मूल में किसी प्रकार की शुद्ध वासना का होना अत्यावश्यक है। यह शुद्ध वासना है, अतः यह अशुद्ध मायिक वासना से पूर्णतः पृथक् है। अशुद्ध माया में भेद रहता है, तदनुसार उभय क्षेत्र में वासनागत भेद की भी सत्ता विद्यमान रहती है। अशुद्ध माया जनित वासना के मूल में जो कुछ परिलक्षित होता है, वह व्यक्तिगत अथवा व्यष्टिगत भोगाकांक्षा है अथवा व्यक्तिगत मुक्ति की आकांक्षा है। इस क्षेत्र में (अशुद्ध माया क्षेत्र में) अहंता एवं ममता भी सीमित ही है। जब यह व्यक्तिगत सीमा लंघित हो जाती है; और एक व्यापक सीमा का आविर्भाव होता है, तब यह व्यापक सीमा भी पूर्वोक्त परिच्छिन्न सीमा के समान स्थिति का आविर्भाव करती है। पूर्ववर्त्ती अहंता ममता जनित स्वार्थ के समान एक वृहत्तर स्वार्थ का उदय होता है, जिसे परार्थ कहते हैं। वृहत्तर स्वार्थ (परार्थ) की तुलना में एक और व्यापक अवस्था है। इसका भी एक नियामक केन्द्र है। जो इस प्रकार के शुद्ध क्षेत्र का सर्वापेक्षा व्यापक रूप है, वह सिद्धभूमि का सर्वोत्कृष्ट स्तर है। यह सिद्धभूमि खण्ड कालराज्य से अतीत है, तथापि महाकाल से अतीत नहीं है। अतः श्रेष्ठतम सिद्धभूमि के भी आविर्भाव-तिरोभाव को स्वीकार करना ही पड़ता है।

प्रत्येक सिद्धभूमि भी देश तथा कालमान से पृथक् पृथक् अवस्थान करती है। यह सब भूमि महाकाल के अन्तर्गत है और खण्डकाल की क्रिया से मुक्त है। इन सब भूमियों में आविर्भाव, तिरोभाव के साथ-साथ स्थितिमत्ता भी है। अर्थात् इनका आविर्भाव तथा तिरोभाव होता है और मध्य में स्थितिकाल भी रहता है। इस स्थितिकाल में अवान्तर स्थूल कालक्रम अनुभूत ही नहीं होता। सूक्ष्म क्षणिकक्रम अवश्य रहता है। यदि यह क्षणिक क्रम नहीं रहता, उस स्थिति में स्थितिकाल के अनन्तर तिरोधान ही नहीं होता। अतः यह ज्ञात रखना चाहिये कि बाह्यदृष्टि के अनुसार इनकी स्थिति एक ही प्रकार की रहती है। इसी कारण इन भूमियों में बाल्य, यौवन, प्रौढ़, वृद्ध आदि का भेद परिलक्षित नहीं होता। इसी कारण इन भूमियों में देह भी जरा आदि से रहित हो जाता है। यहाँ मृत्यु नहीं है, परन्तु तिरोधान है। इनमें संकोच एवं विकास की क्रिया निरन्तर चलती रहती हैं। यहां जो आत्मा जिस देह का आश्रय लेकर स्थित है, वह देह लाखों वर्ष (अर्थात् उस भूमि के स्थितिकाल पर्यन्त) एक ही प्रकार से रहता है। उसमें विकृति नहीं हो सकती। जो सिद्धि प्राप्त हैं और जिन्हें आधिकारिक अवस्था प्राप्त है, वे इन सब सिद्ध भूमियों के अधिष्ठाता हो जाते हैं। जिनमें अधिकार वासना नहीं है, उनका सिद्धभूमि में रहना अथवा न रहना समान है। वे सिद्धभूमि से भी ऊर्ध्व में अवस्थित रह सकते हैं।

ज्ञानगंज की साधन धारा में जिसे आसनकर्म कहा जाता है, उस कर्म के फल से इस प्रकार की सिद्धभूमि की प्राप्ति हो जाती है। वहां तक गति भी हो जाती है। तदनन्तर स्वकर्म जनित उत्कर्ष के कारण स्वस्थिति में उन्नीत होते हैं। जो आसन-कर्म से युक्त नहीं हैं, उनके लिये इस प्रकार की सिद्धभूमि में प्रवेश कर सकना भी असम्भव है। प्राचीन काल में बौद्धगण इस रहस्य से अवगत थे। अतः वे भूमि प्रविष्ट प्रज्ञा को (समाधि जनित प्रज्ञा की तुलना में) श्रेष्ठ मानते थे। उस समय के हीनयान मत से महायान मत की उन्नति का यही कारण था।

विश्व रचयिता के विधान से इस प्रकार की सिद्धभूमियों की सर्वत्र व्यवस्था है। इसकी स्थिति न रहने पर कालराज्य से मुक्त करके आश्रयदान करने तथा कर्म-पथ से पूर्णत्व की ओर अग्रसर करने का सुयोग कैसे मिलता ? कहीं-कहीं इन्हें दिव्य-भूमि भी कहते हैं। यह मायाधीन जगत में भी है और मायातीत महामाया की भूमि में भी विद्यमान रहती है। इनके अधिष्ठातृगण पृथक् होते हैं। इस पृथकभाव के ऊपर उनका अधिकार क्षेत्र तथा स्थिति निर्धारित है।

जो सिद्धभूमि के अधिष्ठाता होते हैं, उनकी दृष्टि साधारणतः वहिर्मुख एवं अन्तर्मुख (उभयमुखी) होती। अथवा केवल बहिर्मुखी भी हो सकती है, तथापि केवल अन्तर्मुख नहीं हो सकती। केवल अन्तर्मुखावस्था में वह भूमि किसके आश्रय से प्रकाशित होगी ? अतएव उनकी दृष्टि बहिर्मुख होनी चाहिये, किंवा किंचित अन्त-

मुख एवं शेष बहिर्मुख हो। जैसे मानव देह में आज्ञाचक्र का जो स्थान है, वही विश्व रचना में सिद्धभूमि का स्थान है। आज्ञाचक्र विमल है तथा विन्दु स्थान में अवस्थित है। जैसे वह एक ओर अधः प्रदेश में सक्रिय है, उसी तरह सहस्रदल की ओर भी क्रियाशील रहता है। जैसे दिवा एवं रात्रि की अन्तरालवर्त्ती सन्ध्या मध्यस्थ रूप है; उसी प्रकार सहस्रदल एवं षट्चक्र के अन्तराल में आज्ञाचक्र की सत्ता है। इसी प्रकार समष्टि जगत् में सिद्धभूमि भी सम्पूर्ण संसार की ओर अभिमुखी है, दूसरी ओर वह पूर्ण की ओर भी अभिमुख है।

सिद्धभूमि चित्त की एकाग्र भूमि में स्थापित है। वह ज्ञानमय है। इतने पर भी यह साधक तथा योगी का चरम लक्ष्य नहीं है। एकाग्रता ही चित्त के विकास की पूर्ण परिणति नहीं है। चित्त एकाग्रता लाभ के साथ-साथ योगभूमि में प्रवेश करता है। यहां यह ज्ञातव्य है कि योग का पूर्ण फल प्राप्त करने के लिये एकाग्रता से प्राप्त ज्ञान को भी निरुद्ध करना ही होगा। अज्ञान का नाश करके ज्ञान अपनी सार्थकता को सिद्ध कर देता है। अज्ञान नाश के पश्चात् सत्य का पूर्ण प्रकाश हो जाने पर ज्ञान भी सफलता प्राप्त करते हुये निरुद्ध हो जाता है। इस ज्ञानातीत सत्य का प्रकाशन करना ही योग का प्रकृत लक्षण है। यह सत्य है आत्मा। यह स्वयंप्रकाश है, अतः सर्वदा अपने निकट प्रकाशमान रहता है। सिद्धभूमि में विद्युत की वल्लरी के समान इस स्वप्रकाश सत्य का साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है।

यहां यह स्मरणीय है कि मनुष्य के अध्यात्म जीवन का यही चरम लक्ष्य नही है। चरम लक्ष्य है आत्मस्वरूप में स्थिति। आत्मसाक्षात्कार से स्थिति होती है। आत्मा का अनावृत स्वरूप दर्शन करने पर ही स्थिति लाभ हो सकेगा। स्वरूपावस्थान देशकालातीत है। वह महाकाल से भी अतीत है। यद्यपि ज्ञानराज्य (ज्ञानगंज) में स्वरूपावस्था का आभास अवश्यमेव प्राप्त होता है, तथापि उसे सत्य रूप में प्राप्त करने के लिये ज्ञान एवं अज्ञान से अतीत होना ही होगा। वह न होने पर चैतन्य स्वरूप मातृक्रोड़ में प्रवेश लाभ नहीं हो सकता। स्वरूपावस्था में चित्त न रहने की स्थिति में आ जाता है। इस अवस्था में आत्मा परम शिवरूपी है। उसकी शक्ति है पराशक्ति। दोनों में कोई पार्थक्य नहीं है। यही है स्वातंत्र्यमय बोध अथवा बोधमय स्वातंत्र्य की अवस्था।

आत्मा स्वतंत्र है। स्वप्रकाश सत्-चित्-आनन्दमय स्वरूप है। उसकी अनन्त शक्ति उसे घेरे रहती है। पराशक्ति उसके साथ अभिन्न है, तथापि उससे पृथक् है। अपराशक्ति उससे भी भिन्न तथा पृथक् है। इन सभी शक्ति समूह को लेकर आत्मा नित्यलीला के कारण व्यापृत् रहता है। स्वरूपतः वह निष्क्रिय होने के कारण लीलातीत है, तथापि स्वरूप शक्ति के प्रभाव से नित्यलीलामय है। यह लीला है अभेद अथवा प्रेम की लीला। यही है भेदाभेदमय (जीवशक्ति) की लीला अथवा

भेदमयी माया लीला, सभी एक साथ ! वह अस्पन्द है; तथापि शक्ति के कारण स्पन्दमयता से युक्त प्रतीत हो रहा है। प्रतिक्षण स्पन्दनशील होने पर भी सदा कूटस्थ है और निस्पन्द भी है !

सिद्धभूमि समूह सिद्धपुरुष के नाम के अनुसार अथवा अन्य किसी प्रकार के नियन के अधीन होकर विभिन्न नाम तथा रूप से युक्त होकर श्रीभगवान की विश्व-लीला में अपना कार्य करता रहता है। प्रसिद्धि है कि भगवान् दत्तात्रेय, अगस्त्य, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋषिवर्ग अपने-अपने आश्रम की स्थापना करके ज्ञान-विज्ञान प्रचार करते रहते हैं। सभी का एकमात्र उद्येश्य है कालराज्य के जीव समूह को किसी भी प्रकार से काल के आवर्त्त से मुक्त करना। उन्हे अपने निजधाम में, शान्ति तथा आनन्दमय धाम में यथासम्भव दीर्घकालीन आश्रय प्रदान करना। यद्यपि इस महान कार्य में धर्म की एक सार्थकता परिलक्षित होती है, तथापि यह सनातन धर्म का, नित्यसिद्ध मानव धर्म का पूर्ण विकास नहीं है। कारण यह है कि केवल काल-राज्य में ही कर्मक्षेत्र की सत्ता रह सकती है। इसी कारण सिद्धभूमियों में भी अवान्तर विभाग परिलक्षित होते रहते हैं। इसका कारण यह है कि कर्मक्षेत्र में (संसार में) कर्मबीज प्राप्त करके, प्रारब्ध के अन्त में खण्डकाल में देहत्याग (मृत्यु) का वरण करते हुये, कर्मभूमि में आगमन द्वारा कर्म के पूर्ण विकास का पथ उन्मुक्त हो जाता है। अतः जो व्यक्ति अखण्ड महायोग की धारा से युक्त हैं, वे इस अल्प जीवन में अपना साधनकर्म पूर्ण न होने पर, मृत्यु के उपरान्त ज्ञानगंज में प्रवेश करते हैं, जहाँ उन्हें कर्म को पूर्ण करने का यथोचित अवसर एवं वातावरण प्राप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त और भी अन्य प्रकार की सिद्धभूमियों की स्थिति का वर्णन प्राप्त होता है। वे कर्मभूमि नहीं है। अतः वहाँ कर्म को पूर्ण करने की आकांक्षा हो ही नहीं सकती। भावप्रधान-ज्ञानप्रधान तथा अन्यान्य गुण युक्त सिद्ध-भूमि का भी अस्तित्व है। यह सिद्धों का कथन है।

सिद्धपुरुष रहस्य

भारतवर्ष मे सिद्धपुरुषों के सम्बन्ध मे संभवतः प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ सुनता ही रहता है। सामान्य वर्ग की यह धारणा है कि जो मनुष्य अपने जीवन में एक अलौकिक अवस्था प्राप्त कर लेते हैं, वे सामान्य व्यक्ति नहीं रह जाते। उन्हे अलौकिक शक्ति प्राप्त रहती है और वे मानव जीवन के एक महान् आदर्श को प्राप्त होकर अनेकांश मे पूर्णत्व प्राप्त कर लेते हैं। प्राक्काल मे ८४ सिद्ध पुरुषवर्ग की कथा साहित्य मे अंकित है। इतने पर भी सिद्धपुरुष मात्र ८४ संख्यक नहीं हैं। उनकी संख्या अनन्त है।

इस प्रबंध में सिद्धपुरुषों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक आलोचना अभिप्रेत नहीं है। सिद्धावस्था प्राप्ति के उपाय प्रत्येक धर्म में विवेचित हैं। अतएव हिन्दु धर्म के ही समान ईसाई, सूफी, बौद्ध तथा जैनियों मे भी सिद्धपुरुषों का वर्णन प्राप्त है। यहां यह आलोचना की जा रही है कि किस प्रकार से मनुष्य सिद्ध पदवी से मंण्डित होता है।

समग्र सृष्टि अथवा विश्व के मूल में एक ऐसी महाशक्तिशाली सत्ता विद्यमान है, जो अद्वैत तथा अखण्ड है। यह सत्ता चैंतन्य एवं आनन्द स्वरूप है। इसमे अनन्त शक्ति अभिन्नतया स्थित है। यह सत्ता एक ओर अद्वितीय, अनादि तथा अनन्त, अक्षत एवं निर्विकार है। यह पूर्णस्वरूप से विभूषित है। यही सत्य-स्वरूप भी है। देश-काल तथा निमित्त, इसका स्पर्श भी नहीं कर सकते। यह सत्ता कार्य-कारण भाव तथा नियम एवं श्रृंखला के द्वारा नियंत्रित नहीं हो सकती। मनुष्य जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति रूप अवस्थात्रय से सुशोभित है। पूर्णपुरुष भगवत् स्वरूप इन अवस्थात्रय में रहने पर भी, इससे उर्ध्व है। वह नित्य है तथा अतिचेतन रूपेण विद्यमान रहता है। इसे तुरीयावस्था भी कहा जा सकता है। यह अतिचेतन अवस्था चैंतन्य की ही अवस्था है। यह सत्ता अप्रतिहत निरवच्छिन्न साक्षात्कारात्मक प्रकाश की अवस्था है। इससे भी परे एक ऐसी गहन-गंभीर अवस्था है, जहाँ बोध का भी उन्मेष नहीं रहता। इस स्थिति मे बोध का प्रवेश भी नहीं है।

सत्य तो यह है कि यह कोई अवस्था नहीं है। इसे स्थिति कहते हैं। यह अतिचेतन से भी अतीत है, अतः इसे एक प्रकार से अचेतन कहना ही उचित है! अचेतन कहना भी उचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि यह चैंतन्य की अत्यन्त गहन, घनीभूत अवस्था है। यह है प्रकाश का घनीभूत अप्रकाश। यद्यपि आपात दृष्टि से यह जड़ प्रतीत होती है, तथापि यह जड़ तथा चेतन रूप द्वन्द्व से भी अतीतावस्था है। यही है भगवान का यथार्थ स्वरूप। उनमें अनन्त शक्ति है, तथापि इस स्थिति से उन शक्तियों का प्रयोग किसी भी स्थूल, किंवा सूक्ष्म स्तर में नही हो सकता! जो पूर्ण सत्य है, जो सत्य का अपार तथा अतल प्रकाश है, वह स्वयं तत्स्वरूप होने पर भी उसे नहीं जानता! यह स्थिति गंभीर सुषुप्ति के अनुरूप है।

इस स्थिति से जगत् सृष्ट नहीं होता। जिनका वर्णन सृष्टि-स्थिति-संहार-कर्त्ता रूप से प्राप्त होता है, वे हैं इस पूर्ण सत्य से अभिन्न चेतन पुरुष। वे निरन्तर सृष्टि व्यापार में व्यापृत रहते हैं। साथ ही इसका बोध भी उन्हें रहता है। इतने पर भी वे यह नहीं जानते कि वे ही स्वयं अखण्ड परमतत्व हैं। उन्हें यह जानने का कोई प्रयोजन भी नहीं रहता। मनुष्य सिद्धावस्था में जिस पूर्णत्व को प्राप्त करता है, उसके साथ भी उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। उनका एकमात्र सम्बन्ध है, सृष्टि प्रभृति व्यापार से। सृष्टिकर्त्ता ईश्वर देश तथा काल से अतीत नहीं हैं और वे

कार्यकारण भाव से अपगत हैं। उनके बोधकेन्द्र से अनन्त विश्व का निर्गम होता रहता है। जब तक वे क्रियाशील रहते हैं, उतने कालमान को एक महाकल्प कहा गया है। समस्त विश्व उनके कर्म (क्रिया) क्षेत्र से उद्भूत है।

जिसे हम जीवन कहते हैं, उसकी गणना भी पूर्ण सत्य से पृथक् नहीं की जा सकती। जैसे ईश्वर पूर्ण से अभिन्न है, उसी प्रकार जीव भी पूर्ण से अभिन्न है। दोनों में अन्तर यह है कि ईश्वर चेतन है, परन्तु जीव आंशिक रूप से चेतन है और आंशिक रूप से अचेतन है। जीव अपने क्षुद्र अहं को जानता है। वह यह नहीं जानता कि वस्तुत: वह आत्मा है—अनन्त एवं अखण्ड है। देश-काल तथा कार्यकारण भाव जीव को बद्ध किये रहता है। जीव भी महाकल्प पर्यन्त अवस्थित रहता है। तद-नन्तर वह स्वयं को पूर्ण से अभिन्न उपलब्धि करने के पश्चात्, देश-काल की सीमा का अतिक्रमण करने के पश्चात्, पूर्ण में स्थितिलाभ करता है।

आत्मस्वरूप में मन-प्राण प्रभृति उपाधियों का योग होने पर जीवरूप में आत्मा का ही आविर्भाव होता है। भगवत् साक्षात्कार के लिये इन उपाधियों का त्याग करना ही होगा। केवलमात्र मृत्यु से इस अवस्था की प्राप्ति नहीं होती। जागतिक वासना रहने तक मृत्यु के पश्चात् भी जीवभाव समाप्त नहीं हो सकता। जब तक जागतिक वासना विद्यमान है. तबतक मृत्यु के पश्चात् भी जीवभाव उच्छिन्न नहीं हो सकता। जब सम्पूर्ण रूप से वासनाजाल छिन्न हो जाता है, तब देह में रहते हुये भी मुक्ति का आस्वादन संभव है। इन वासना समूह तथा संस्कार का रोध ज्ञान द्वारा होता है। मनुष्य का चित्त सर्वदा इन सब संस्कारों से अनुविद्ध रहता है। अत: चैतन्य स्वयं अपनी उपलब्धि से वंचित रह जाता है। इन सबका उन्मोचन हो जाने पर प्रकृत सत्य का दर्शन संभव है। जो आत्मा जीवभाव की संकोचरूपी अवस्था से रहित है, उसे ही शुद्ध आत्मा कहते हैं। अत: जीवन रहते हुये ही जीवभाव से अतीतावस्था का आस्वादन करना आवश्यक प्रतीत होता है। जीव का प्रकृत उद्देश्य है बोधातीत परम वस्तु से ऐक्य प्राप्त करना! इसके लिये सांसारिक तथा दैहिक समस्त वासना समूह के समूल रूप का उच्छेदन होना चाहिये। यद्यपि घोर निद्राकाल में प्रत्येक मनुष्य को ऐसी ही अवस्था प्राप्त हो जाती है, तथापि यह ज्ञानपूर्वक प्राप्त अवस्था नहीं है। अत: इस अवस्था में वासना समूह उच्छिन्न नहीं होता, प्रत्युत् वह कुछ काल के लिये सुप्त हो जाता है। सुप्त होने पर भी वह पुन: जाग्रत हो उठता है। अत: निद्रा अथवा साधारण मृत्युकाल में भी वासना उच्छिन्न नहीं हो सकती। मृत्युजनित विस्मृति से पुन: उठने पर, अर्थात् नवीन अवस्था में संक्रमित होने पर जीव यह अनुभव करता है कि वह एक नूतन देह स्थिति में नूतन आवेष्टन में आवेष्ठित है। उसे पूर्वस्मृति नही रह जाती। परिणामत: उसे कुछ भी अभिज्ञता नहीं रहती। अत: योगीगण कहते हैं कि मर के मरना व्यर्थ

है ; जो जीवित ही मर गया उसकी स्थिति सार्थक है । जीवित में ही मरना किसे कहते हैं ? बोधातीत अवस्था में बोध की रक्षा करना ही जीवितावस्था में मरना है। इस अवस्था में एक ओर निर्मल आत्मस्वरूप का पूर्ण बोध जाग्रत रहता है, दूसरी ओर देह, मन तथा विश्व की चेतना ही नहीं रह जाती ।

जीव मायाजाल का भेदन करके सृष्टि भेदन करता है। अब वह समझने लगता है कि वही शिवरूप है । यह जीव के जीवन की सार्थकता है। वह उस समय अपने प्रकृत स्वरूप की उपलब्धि से आप्यायित हो जाता है। यही है अपने प्रकृत स्वरूप की उपलब्धि ! यही अखण्ड सच्चिदानन्द अवस्था कही जाती है । अब उसके सम्मुख स्रष्टा-सृष्टि का भेद, जीव-जगत का भेद नहीं रह जाता । वह पहले की तरह देश-काल-प्रकृति-नियति के अधीन नहीं रह जाता । अब वह स्वयं की सर्व-शक्तिमान पूर्ण सत्य के रूप में प्रत्यभिज्ञा करता है । इस स्थिति का कभी भी ध्वंस नहीं होता । यह जागतिक परिवर्त्तन से उद्वेलित स्थिति नहीं है। अब योगी यह उपलब्धि कर लेता है कि समस्त पशुपक्षी, कीटपतंगादि स्थावर-जंगम में जो है, वही इस अखंड सच्चिदानन्द में भी है। यह अभिज्ञता इतिपूर्व नहीं थी । ज्ञानोदय से यह सब बोधगम्य हो जाता है। सर्वशक्तिमान परमतत्व के साथ ज्ञान तथा चैतन्य का योग हो जाने पर इस अवस्था का उदय होता है । यही है सिद्धावस्था ! यही है नित्य जाग्रदावस्था ! अब ज्ञाता-ज्ञेय एवं ज्ञान, द्रष्टा-दृश्य, प्रेमिक-प्रेमास्पद-प्रेम अभिन्न होते हैं । एकमात्र सिद्ध ही इसे अनुभव कर सकते हैं । अतीत-अनागत-वर्त्तमान इस भूमि में एक हैं । अज्ञानावस्था से ही इनमें भेददृष्टि का अनुभव होता है ।

प्रकृत सत्य यह है कि परमात्मा ही परमतत्व है । वही ईश्वर, जीव तथा सिद्धपुरुष रूप से विभिन्न भाव को अंगीकृत करते हुये क्रीड़ा करता है । परमात्मा अवस्था में वह परमतत्व एक, अखण्ड, तथा अनन्त स्वरूप ज्ञान से अगोचर भाव में स्थित है । वह अनन्त शक्ति, अनन्त सत्ता तथा अनन्त चैतन्य से युक्त है । ईश्वर स्थिति में यह सब उसमें है, तथापि उसे केवल सृष्टि-स्थिति एवं संहार का अनुभव होता है । जीव रूप में भी वह सर्वशक्ति सम्पन्न है, तथापि अपनी वासनाओं के कारण सर्वशक्तिमत्ता के द्वार का उसे संधान नहीं है । अतः यह सर्वशक्ति सम्पन्न परमात्मा स्वयं को जीव रूप में सीमाबद्ध अनुभव करता है। उसकी सिद्धावस्था सेवात्मक अवस्था है। केवलमात्र इसी सिद्धावस्था में परमात्मा चेतन होकर अपनी अनंत शक्ति का साक्षात्कार करता है ।

यहाँ जिस सिद्धावस्था का निरूपण किया जा रहा है, वह भगवत् साक्षात्कार की परावस्था है। भगवत् साक्षात्कार से मात्र भगवद् विषयक परोक्षज्ञान ही का तात्पर्य नहीं है, प्रत्युत् वह भगवान के साथ युक्तावस्था का द्योतक है । जब इस अव-स्था की प्राप्ति हो जाती है, तब साधक ही योगी कहलाने लगता है । इस स्थिति में

जीव अपनी पृथक् अवस्था के बोध से मुक्त होकर सर्वप्रकार से द्वैतभाव अतिक्रमण कर लेता है। अब परमात्मा के साथ तादात्म्यज्ञान स्थायी रूप से दृढ़ हो जाता है। उसे उपलब्धि होती है कि "उसकी यह अवस्था अनादिकाल से थी, तथापि योगावस्था प्राप्त होने के पहले उसे इसका बोध और आस्वादन भी प्राप्त नहीं था। यह कोई अभूतपूर्व अनुभव नहीं है।" अब उसे यह भान नहीं रहता कि उसने कोई पृथक् वस्तु की प्राप्ति की है। वह यह उपलब्धि करता है कि मैं जैसा पहले था, वैसा ही अब हूँ। उसके स्वरूप में कोई भी नवीन परिवर्तन नहीं होता। अनादिकाल से क्रम विकास की यह क्रीड़ा चल रही है और चलती रहेगी। यह एक क्रीड़ा मात्र है। माया का विलास है। यह एक कौशल मात्र है, जिससे आत्महारा जीव पुनः स्वयं की उपलब्धि कर लेता है।

मायाजाल में आबद्ध जीव के लिये कभी-कभी यह क्रीड़ा अत्यन्त कष्टदायक प्रतीत होने लगती है। मायाजाल का कारण है जीव का मूल अहंकार। प्राथमिक अवस्था में वह अहंकार रहित रहता है। चैतन्य के विकास क्रम से उसका अहंकार वर्धित होने लगता है। इसी अहंकार का आश्रय लेकर अविद्या गुप्त भाव से विद्यमान रहती है। यह है भगवत् साक्षात्कार का प्रधान प्रतिबंधक। जीव के स्वस्वरूप में अनन्तज्ञान निहित रहने पर भी उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती। गम्भीर निद्रा के समय जीवगण परमेश्वर तादात्म्य का उपभोग करते हैं, परन्तु इस उपभोग का सचेतन अनुभव नहीं होता। सुषुप्ति काल में जगत्भ्रम अल्पकाल के लिये तिरोहित हो जाता है, तथापि उससे सचेतन अनुभूति का प्रस्फुटन नहीं होता। इसका कारण यह है कि जब तक अहंकार पूर्णतः निवृत्त नहीं होता और चैतन्यधारा श्री भगवान की ओर उन्मुख नहीं हो जाती, तब तक मात्र बाह्यज्ञान निवृत्त हो जाने से ही भगवत् साक्षात्कार सम्भव नहीं हो सकता।

कभी-कभी किसी अचिन्त्य क्षण में सुषुप्ति की गाढ़ावस्था भग्न हो जाती है तथापि जाग्रदावस्था का उदय नहीं होता। इस प्रकार के सन्धिक्षण में चैतन्य निरालम्ब रूप से अल्पक्षण के लिये आत्मप्रकाश करता है। यह है बोधावस्था। यह जड़त्व नहीं है। यहां किसका बोध होता हैं? जगत् बोध तो होता ही नहीं। इस अवस्था में व्यापक अभाव बोध स्फुरित होने लगता है। इसे महाशून्यावस्था कहते हैं। यह है भगवत् साक्षात्कार की पूर्वसूचना। चैतन्य जगत् के इन्द्रजाल से पूर्णतः मुक्त होने पर अहँकारस्थ अनंत ज्ञान का प्रकाशन ही भगवत् साक्षात्कार का प्रकाश काल है। एकमात्र सिद्धपुरुष ही अनन्त ज्ञान का विकास प्रत्यक्ष करते हैं। साधकावस्था में, अथवा असाधक अवस्था में बद्ध आत्मा में जो परमात्मा हैं, उनमें यह ज्ञान स्फुरित नहीं हो सकता कि वे ही परमात्मा हैं। अतः भगवत् साक्षात्कार नितान्त व्यक्तिगत व्यापार है। एक ही परमात्मा सर्वत्र विराजित हैं, तथापि एक आधार

में उनका अनन्त स्वरूपज्ञान उन्मुक्त हो जाता है, परन्तु अन्य आधार में उन्मुक्त नहीं रहता। यदि साक्षात्कार व्यक्तिगत व्यापार नहीं होता, उस स्थिति मे एक सिद्ध द्वारा भगवत्ता प्राप्त करते ही, इस जगत् की विचित्र भेदलीला का पर्यवसान हो जाता। अतः एक के साक्षात्कार से अभीतक समस्त विश्व का साक्षात्कार नहीं हो सका। कोई-कोई आत्मा साधनबल से पूर्णज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होते हैं, तथापि इस पूर्ण ज्ञान की स्फुरत्ता केवलमात्र उसी आत्मा को अनुभूत होती है। समस्त जगत् इस उपलब्धि से वंचित रह जाता है!

यहां यह जिज्ञासा होती है कि भगवत् साक्षात्कार के फल से क्या आत्मा को कुछ प्राप्त होता है? इस प्रश्न के समाधान के पहले यह जानना आवश्यक है कि प्राप्ति शब्द का क्या तात्पर्यार्थ है? अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति को प्राप्ति कहते हैं। अतः जिस नित्यप्राप्त वस्तु को मोह के कारण अप्राप्त माना जाता है, (मोह निवृत्ति के अनन्तर) उसकी पुनरभिव्यक्ति को प्राप्ति संज्ञा कैसे दी जा सकती है आत्मप्राप्ति अथवा भगवत् प्राप्ति इसी पुनरभिव्यक्ति के अन्तर्गत परिगणित है। यह अप्राप्त की प्राप्ति नहीं है, तथापि इसका महत्व अपरिसीम है। असिद्ध पुरुष स्वयं को सीमाबद्ध करके सुख-दुख का भोग करता है। सिद्ध पुरुष की अवस्था एतद्विपरीत है। उसके आनन्द तथा ज्ञान का अन्त नहीं होता।

भगवत् ज्ञान की अभिव्यक्ति नाना उपाय से होती है। उनमें प्रेम सर्वश्रेष्ठ उपाय है। प्रज्ञान भी इसी के अन्तर्गत है। विचार मूलक ज्ञान अन्य प्रकार का होता है। प्रेम के द्वारा बुद्धि का अतिक्रमण होता है। इससे पूर्ण आत्मविलोप होता है। आत्मविलोप होते ही भगवान से मिलन होना अवश्यंभावी है। दिव्य प्रेम के प्रेमिक अपनी व्यक्तिगत सत्ता का विस्मरण कर देते हैं। इस प्रकार वे मानवीय सीमा का अतिक्रमण करते हैं। क्रमविकास के फल से उनकी अपनी परमसत्ता विकसित हो उठती है। जब माया तथा द्वैतप्रपंच से आत्मा मुक्त हो जाता है, तभी एकीभाव प्रस्फुरित होने लगता है। अब समग्र मूलसत्ता का आकर्षण जाग्रत हो जाता है। इस पथ में प्रेम की प्रेरणा ही विशेषभाव से उल्लेखनीय है।

इस पथ के तीन अंश किंवा विभाग हैं। प्रथम अंश के पश्चात् अनेक स्तर हैं। इन्हें भूमि कहा जाता है। यह अंश विस्तृत है दिव्यज्ञान के सूत्रपात से लेकर पूर्ण आत्मविकास पर्यन्त! इस पथ की चरम अवस्था में अहंकार विनष्ट हो जाता है और मायिक धारा से सम्बन्ध भी समाप्त होने लगता है। इसके पश्चात् "विच्छेद हुआ था" ऐसी भी अभिज्ञता नहीं रह जाती। सूफीगण इस अवस्था को "फना" कहते हैं। इस दीर्घपथ के यात्री का सम्बल क्या रहता है? उसका सम्बल रहता है शुद्ध आत्मा, उसका आनुषंगिक चेतना संस्कार, अहंकार तथा मन। यह अहंकार

शुद्ध आत्मा का विकृत तथा मिथ्या रूप है। इसका पूर्ण विलोप होना ही स्थिति का लक्ष्य है। अहंकार निवृत्ति के साथ-साथ कर्म, वासना, संस्कार प्रभृति लुप्त हो जाते हैं। ये सब अहंकार से पीड़ित होकर मनोमय कोष में अवस्थान करते हैं। अब एकमात्र चेतना अवशिष्ट रह जाती है। उसका लोप नहीं होता। समस्त गुण कर्म आदि का तथा ज्ञान का भी अभाव हो जाता है। इस अभाव का बोध शेष रह जाता है। यही है शून्यबोध। अहंकार के अभाव में यह भी बोध नहीं रह जाता कि "मैं अकिंचन हूँ"। अब भगवान् नहीं हैं, विश्व स्त्रष्टा, सृष्टि आदि सब का अभाव है। अथच चेतना है।

यही है अचेतन चेतना। इसकी धारणा बुद्धि के द्वारा नहीं हो सकती। यह चेतना स्थूल, मिथ्या, सत्य जगत् अथवा भगवान् का विषय नहीं है। अथच चेतना है! इसे उपराग रहित चेतना कहा जाता है। संस्कार, अहंकार, मन प्रभृति का लोप हो जाने पर भी चेतना रहती है। अब "मैं" का केवलमात्र शुद्ध अंश ही अवस्थित है। साधारण मानव संस्कार इस शुद्ध "मैं" का संधान नहीं पा सकता। सृष्टि के पूर्व परमात्मा भी अन्तःश्चेतन रहते हैं। सिद्धों का कथन है कि तब वे स्वयं को परमात्मा रूप से भी नहीं जानते। अतः यह कहा जा सकता है कि उनमें प्रकृत "मैं" नहीं रहता। यह सत्य तथ्य है। मिथ्याज्ञान पर ही सत्यज्ञान आधारित है। संस्कार जन्य मिथ्याज्ञान मूलक मिथ्या अहं के ऊपर ही प्रकृत "मैं" निर्भर रहता है।

पथ के प्रथम अंश के चरम लक्ष्य के रूप में जो शून्यावस्था है, उसे विवेचित किया जा चुका। अब द्वितीय अंश की विवेचना की जाती है। पूर्वोक्त चेतना के द्वारा प्रकृत "मैं" की उपलब्धि हो जाती है। इसका इतिहास ही द्वितीय अंश का विषय है। इस समय यही अचेतन चेतना रूपान्तरित होकर "अहं" चेतना का रूप धारण करती है। यह बोध परमात्म बोध है। यह "अहं ब्रह्मास्मि" के रूप में आत्मप्रकाशन करता है। द्वितीय अंश के अवसान काल में यह उपलब्धि उदित होती है। सूफीगण इसे "वका" कहते हैं। यही है यथार्थ भगवद् बोध।

यह भी सिद्धपुरुष की स्थिति नहीं है। सिद्ध की अवस्था इस "अहं ब्रह्मास्मि" स्थिति से उत्कृष्ट रहती है। दोनों स्थितियों में क्रियागत पार्थक्य है। वास्तव में "मैं ब्रह्म हूँ" इससे उच्चतर अवस्था हो ही नहीं सकती। चरम अति-चेतना की अवस्था से और अधिक उत्कर्ष की कल्पना कर सकना सम्भव ही नहीं है। ब्रह्मभाव में प्रतिष्ठित हो जाने पर साधक के लिये अप्राप्त अथवा असिद्ध कुछ भी नहीं रह जाता। मन, स्थूल, सूक्ष्म जगत्, देश-काल, चन्द्र-सूर्य, नक्षत्र, लोक-लोकान्तरादि भी नहीं रह जाते। यह है चिन्तन तथा कल्पना से अतीत अवस्था। तब एक ही रह जाता है। द्वंद्व की प्रक्रिया नहीं रहती। सभी साधनाओं की यही चरम सिद्धि है।

सिद्धि प्राप्ति के पश्चात् कोई व्यक्ति देह रहने पर भी और अग्रसर नहीं होते। इनका सूक्ष्म तथा स्थूल चेतना से कोई योग नहीं रहता। ये पूर्णरूपेण पूर्णता के प्रतीक हैं। इनकी सत्ता अनन्त तथा असीम है।

पथ का एक और भी अंश है। इसे तृतीयांश कहते हैं। यह सबके लिये नहीं है। जो सद्गुरु विश्वोद्धार कार्य में प्रवृत्त होते हैं, यह अंश उनके लिये ही है। पथ के तृतीयांश में स्थूल तथा सूक्ष्म चेतना का पुनरुद्धार होता है। यदि ऐसा नहीं होता उस अवस्था में जनसाधारण (सामान्य जीव) से सम्बन्ध ही स्थापित नहीं होता और श्री भगवान् के अनुग्रह विस्तार का जगत् व्यापार में भाग लेना भी संभव नहीं होता। आधिकारिक पुरुषों के लिये पथ का यह तृतीय अंश है। आगमों में निर्वाण दीक्षा के पश्चात् आचार्य दीक्षा की सम्भावना अंगीकृत की जाती है। सिद्धपुरुय में उनकी अनिचेतना अनुक्षण रहती है। इसी के साथ उनमें सृष्टि विषयक चेतना भी अभिव्यक्त रहती है। पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्मनिष्ठ अर्थात् "मजूब" एवं सद्गुरु भावापन्न "कुतुब" संज्ञक पुरुष की स्थिति में कोई भी पार्थक्य नहीं रहता। केवल भावगत् पार्थक्य है। ब्रह्मनिष्ठ की दृष्टि में सृष्टि नहीं है, किन्तु अनुग्राहक गुरु की दृष्टि में सृष्टि की सत्ता है। इन गुरुरूपी सिद्ध को नररूपी विरुपाक्ष कहते हैं।

ज्ञानगंज का आविर्भाव

ज्ञानगंज की सत्ता तथा वहां के अधिष्ठाता की सत्ता में कोई भी पार्थक्य नहीं है। वास्तव में अधिष्ठाता की सत्ता से ही ज्ञानगंज सत्तान्वित है। वहां के अधिष्ठाता की दृष्टि में ज्ञानगंज तो इनकी ही आत्मशक्ति का एक विजृम्भण ही है। वह उनकी महासत्ता का वाह्य स्फुरण है। प्रारंभ में वाह्यता की कोई भी अनुभूति नहीं रहती। शक्ति की अन्तर्लीनावस्था में अन्तः तथा वाह्य का भेद भी स्तिमित रहता है। वाह्यता के स्फुरण के लिये अभेद भूमि में ही एक कल्पित द्वैत का अवभासन होना आवश्यक है। द्वैत के अभाव में वाह्यबोध हो ही नहीं सकता। आत्मातिरिक्त कुछ है, भी इसका भी अवबोध नहीं होता। सभी कुछ एक प्रशान्त रूप महाबोध स्थिति में निमज्जित सा रह जाता है। इस स्थिति में जब कि जगत् बोध ही नहीं रहता तब जगत् कल्याण की कामना कैसे हो सकती है? इसी कारण से अधिष्ठाता में कल्पित द्वैतबोध का उद्रेक अवश्यम्भावी सा हो जाता है, क्योंकि उन अधिष्ठाता का लक्ष्य है जगतसृष्टि पर महाकरुणा की वर्षा करना। इसे प्रेमराज्य रूपी अखण्ड ज्ञान राज्य के क्षेत्र में परिणत करना। अतः उनकी अद्वैतावस्था में ही कल्पित द्वैतबोध की उर्मियां गतिमान हो जाती हैं। यह उर्मि कैसे संगठित होती है?

यह संगठित होती हैं समग्र जगत् की आर्त्तना से। वास्तव में समस्त सृष्टि में कोई भी सुखी नहीं है। जो भी सुख है वह आपेक्षिक तथा अस्थायी है। उससे जीवजगत् आप्यायित नहीं हो सकता। उससे उसका अभाव दूर नहीं हो सकता। अतः वह अतृप्त, अभावग्रस्त तथा पीड़ित सा रह जाता है। ऐसी ही स्थिति में जीवमात्र के अन्तःस्थल से जाने-अनजाने, व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप से अभाव-पीड़ा तथा अतृप्ति की आर्त्तना उठती ही रहती है।

यह आर्त्तना उठकर इस महाकाश में संकेन्द्रित होती रहती है। जगत में कुछ भी नष्ट नहीं होता। नष्ट शब्द 'नश्' धातु से व्युत्पन्न है। 'नश्' का अर्थ है अदर्शन। अर्थात् जिसे हम नष्ट होना कहते हैं, वह नष्ट नहीं होता। उसका सर्वथाभाव नहीं होता, प्रत्युत् वह हमारी ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अनुभूत नहीं होता। अतः उसे नष्ट हो जाना कहने लगते हैं। वह आर्त्तना नष्ट नहीं हो रही है। वह आर्त्तना उठते-उठते महाकाश में संकेद्रित होती जाती है। संकेन्द्रण की घनीभूत प्रक्रिया में वह पुष्ट होती जाती है। अन्त में वह केन्द्रित आर्त्तना भूताकाश का अतिक्रमण करके चित्ताकाश क्षेत्र में अपना अनुगुंजन व्यक्त करने लगती है। इस स्फोट का स्पन्दन चिदाकाश भूमि को भी झंकृत करने लगता है और चिदाकाशस्थ अधिष्ठाता के अद्वैत बोध में यह द्वैतमूलक स्पन्दन सक्रिय हो जाता है। इस द्वैतमूलक स्पन्दन के प्रभाव से अधिष्ठाता की दृष्टि में जीवजगत् की सत्ता अनुभूत होने लगती है और वे इस जीवजगत् के दुःख से करुणाविगलित हो उठते हैं। ब्रह्मलीन अवस्था में, परमात्म भाव में तथा ईश्वरभाव में यह महाकरुणा गतिशील नहीं रहती। एकमात्र भगवद्भावापन्न अवस्था में ही इसका उद्रेक होता है। अतः अधिष्ठाता की स्थिति भगवद्भावापन्न है।

अद्वैत में द्वैत का प्रवेश होता कैसे है? अद्वैत का तात्पर्य है अ + द्वैत। इसका सामान्यतः यह अर्थ किया जाता है कि जहाँ द्वैत का अभाव है। जहां द्वैत का अभाव है वहां क्या होगा? वहां जो कुछ भी होगा-वह अद्वैत नहीं है। अद्वैतातिरिक्त कुछ है। तथापि जो है उसके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसका कारण है कि भाषा अद्वैत की स्थिति का प्रकाशन नहीं कर सकती। भाषा द्वारा जो कुछ भी कहा जाता है, प्रकाशित होता है, वह सब कुछ द्वैत ही है। अद्वैत का तात्पर्य स्पष्ट किया जाता है। जैसे दो पात्रों में जल है। दोनों जल है, तथापि पात्रगत आकार से आकारित है। पात्रगत भेद से जल में भी द्वैताभास होने लगता है। अर्थात् एक पात्र में यहाँ जल है तथा एक पात्र में वहाँ जल है। यह द्वैत है। देहगत पात्र में जब एक चैतन्य सत्ता नानारूप में भासित होने लगती है, तब देहभेद से चैतन्य में भी नानाभेद परिलक्षित होने लगते हैं। दोनों पात्रों का जल एक में मिला देने पर अब वहाँ जल के द्वैत का समापन हो जाता है। अब एक ही पात्र में जल है। अतः यहाँ

अद्वैत है। वस्तुत: तब भी जल एक ही था, तथापि पात्रगत भेद के कारण उसमें द्वैतावभासन होने लगता है। अत: अद्वैत का अर्थ द्वैत का विनाश-कदापि नहीं है। अद्वैत का यथार्थ तात्पर्य है द्वैत का समन्वय। जहाँ समस्त द्वैत, देहगत भेद, दृष्टिगत भेद के आच्छादन से हम विनिर्मुक्त हो जाते हैं, वहाँ स्वत: अद्वैत प्रतिष्ठा हो जाती है। इसमें देहगत्, दृष्टिगत, अवस्थागत, स्थितिगत प्रभृति भेदों का समन्वय साधित हो जाता है।

यही है अधिष्ठाता की अद्वैत प्रतिष्ठा। उसमें देहगत् अथवा दृष्टिगत भेद की सत्ता नहीं है, परन्तु यह व्यष्टि स्थिति है। यथार्थ समष्टि स्थिति नहीं है। समष्टि स्थिति होने पर अधिष्ठाता की अद्वैत प्रतिष्ठा के साथ-साथ समस्त जीवजगत में अद्वैत प्रतिष्ठा संभावित हो जाती। अभी मात्र अधिष्ठाता ही अद्वैताभावापन्न हैं। जीवजगत इस प्राप्ति से अनभिज्ञ है। उसकी दृष्टि में भेदावभासन है। भेद ही दु:ख का कारण है। अधिष्ठातातत्व की सम्यक् दृष्टि का व्यष्टि रूप में ही उदय हो सका है। उनकी अद्वैतसत्ता में भी व्यष्टि का क्वणन विद्यमान रह जाता है। अत: संसार के प्रत्येक व्यष्टि जीव का दु:ख, उसकी आर्त्तना जब चिदाकाश भेदन करने लगती है, तब उस अद्वैत स्थिति में निमज्जित अधिष्ठाता के अस्तित्व में समष्टि चेतना का अभाव जाग्रत हो उठता है।[1]

यह कहा जा चुका है कि जीव जगत् की आर्त्तना के सूक्ष्मीकृत स्पन्दन का जब चिदाकाश में संचरण होता है, तब अधिष्ठाता महातपा के अस्तित्व बोध में करुणा का संचार होता है। यह करुणा का संचार ही विशुद्धानन्द का आविर्भाव है। इस तत्व का निरूपण अभी करना उचित नहीं है। अभी ज्ञानगंज के गठन की स्थिति पर प्रकाश प्रक्षेपण करना आवश्यक है। आर्त्तना के स्पन्दन का क्वणन जब चिदाकाश में होता है, तब एक अभूतपूर्व स्थिति उत्पन्न होने लगती है। पूर्ण अद्वैतभूमि में, वहाँ की घनीभूत स्थिति में विगलन प्रारम्भ हो जाता है। यह विगलन आनन्द का विगलन है। जब आनन्द अन्तर्निमीलित रहता है, तब वह घनीभूत होता है। अर्थात् उस

---

1. पौराणिक कथानकों में इस सत्य को अनेक दृष्टान्तों के द्वारा स्पष्ट किया गया है। जीव जगत में दु:ख है किन्तु भगवत् सत्ता तक यह आर्त्तना नहीं पहुँचती। रावण के अत्याचार से क्षुब्ध जीववर्ग ब्रह्मा विष्णु के पास जाकर भी समाधान नहीं प्राप्त कर सके। अत: ब्रह्मा के नेतृत्व में (समस्त भूताकाश में एकत्रित आर्त्तना) शिव के पास समुपस्थित होती है। शिव चिदाकाश स्वरूप हैं। जब भूताकाश की आर्त्तना से शिवरूपी चिदाकाश में स्पन्दन प्रारंभ होता है (अर्थात् शिव प्रार्थनारत होते हैं) तब भगवत्सत्ता आविर्भूत होकर यथासमय साधुओं के परित्राण हेतु अवतरित होने का वचन देती है। यह है रामावतार की पृष्ठभूमि।

घनीभूत अवस्था में आनन्द का आस्वादन नहीं रहता। पूर्ण अद्वैतावस्था में आस्वादन कर्त्ता तथा आस्वादन के विषय का सर्वथाभाव रहता है। अतः इसे आनन्द न कहकर निरानन्दावस्था कहते । यह आनन्द से अतीत स्थिति है। अर्थात् आनन्द तो है परन्तु वह अपनी आद्य अवस्था में है। वहाँ उसका कोई साक्षी भी नहीं है। अथवा आनन्द है किंवा नहीं है, यह कहने वाला भी कोई नहीं है। सब कुछ एकाकार है अतः कौन किसका आस्वादन करेगा, कौन किसका आस्वाद्य होगा ?

आनन्द के विगलन के साथ-साथ साक्षी भाव का उन्मेष होने लगता है। इसी के साथ-साथ आनन्द के आस्वादन का प्रारम्भ हो जाता है। अब साक्षीभाव विद्यमान है। साक्षी ही द्रष्टा है। द्रष्टा के आविर्भाव के साथ-साथ दृश्य के आविर्भाव की क्रीड़ा भी अनुभूत होने लगती है। जब दृश्य ही नहीं है, तब द्रष्टा क्या करेगा ? उसका द्रष्टत्व ही विलीन हो जायेगा। अतः महातपा में द्रष्टा की स्थिति का उन्मेष होने के साथ-साथ उनके समक्ष ज्ञानगंज रूप दृश्य का आविर्भाव स्वयं ही हो जाता है। ज्ञानगंज ही घनीभूत आनन्द का विगलन है। वह चिन्मय द्रष्टा का चिन्मय दृश्य है। अतः वहां का सब कुछ जड़ न होकर चिन्मय है। सब कुछ प्रकाश से ओतप्रोत है। प्रकाश का तात्पर्य Light कदापि नहीं है। प्रकाश का तात्पर्य है कि वहाँ सब कुछ चिन्मय है। जड़ की सत्ता ही नहीं है। जैसे महा वृन्दावन के वृक्ष, लता, गिरि, नदी आदि सब चिन्मय हैं, वे जड़ नहीं हैं। श्रीमद्भागवत् में गिरिराज से भी वार्त्तालाप का उल्लेख प्राप्त होता है। वहाँ की नदी कालिन्दी वार्त्तालाप करती है। वहाँ के निर्झर, वृक्षादि सभी चिन्मय हैं। इसी कारण उन्हें प्रकाशरूप कहा जाता है। वे चिन्मय द्रष्टा के दृश्यरूप में आविर्भूत होने के कारण निर्मल, मलरहित हैं। उनमें यह निर्मलता स्फटिक के समान परिलक्षित होती रहती है। अतएव ज्ञानगंज में सर्वत्र स्फटिकवत् निर्मल प्रकाश की चिन्मय स्थिति विद्यमान रहती है। वहां जो धरित्री है, वह इस धरती के समान नहीं है। वह भी अपने चिन्मय रूप में विद्यमान है। वह कोमल तथा मातृअंक के समान स्निग्ध स्पर्श युक्त है। हमारे जीव जगत की धरित्री कठोर स्पर्शयुक्त है। अतः वह पूर्णतः जड़त्व युक्त है। पुराणों में जिस पृथ्वी देवी का वर्णन है, वह प्रकट होती, आशीर्वाद देती तथा प्रबोधित करती है। परन्तु हमारी इस धरित्री में अनेक गुण होने पर भी वह चिन्मय मातृरूप गुण नहीं है। इस धरित्री से शस्य प्राप्ति हेतु, अन्न प्राप्ति हेतु अनेक प्रयत्न करना पड़ता है। इसका कारण यह है कि यह जड़ होने के कारण जड़ कर्म तथा प्राकृतिक नियमानुवर्त्तिता द्वारा फलप्रसवा होती है, परन्तु ज्ञानगंज इत्यादि चिन्मय धाम की धरित्री (माता के समान) जिन्हें अपने उपर धारण करती है, उनके लिये स्वयमेव फलप्रसव करती है। इसके लिये वहां के वासियों को किसी भी शस्यकर्म अथवा नियमानुवर्त्तिता की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

इसका कारण क्या है ? इसका कारण यह है कि ज्ञानगंज प्रभृति चिन्मय स्थल महायोगी की इच्छा शक्ति से आविर्भूत होते हैं। अतः वहाँ का कण-कण इस शक्ति से ओतप्रोत रहता है। वह महाइच्छा ही वहा के अधिवासियों के लिये अनायास यथौच्छित स्थिति एवं वस्तु का आविर्भाव कराती है। इच्छाशक्ति ही ज्ञानगंजस्थ उमा माँ का यथार्थ रूप है। वहां उमा माँ के रूप में इच्छाशक्ति ही साकार विग्रहा हो जाती है। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि उस भूमि में सबकी पृथक्-पृथक् इच्छा की कोई भी सत्ता ही नहीं है। एक महाइच्छा सबको अपनी ही इच्छा के रूप में प्रतिभात होती रहती है। वहां के अधिवासी उसे अपने ऊपर बलात् आरोपित इच्छा नहीं मानते। वे इस महाइच्छा को स्वभाव की इच्छा रूप में शिरोधार्य करते हैं। इस इच्छा का अनुगमन ही उनका स्वभाव है। यही है भगवत् इच्छा के सम्मुख आत्मसमर्पण।

यहाँ जिस महाइच्छा का वर्णन किया गया है वह क्या है ? अधिष्ठाता जब द्रष्टत्व का वरण करते हैं (जब उनमें द्वैताविर्भाव होता है) तब सर्वप्रथम आत्म-विमर्श होता है। "मैं हूँ" इस अस्तित्व बोध का महाउन्मेष होता है। यह अहंबोध उनकी अन्तर्लीन शक्ति का वहिप्रकाशन है। जब शक्ति अन्तर्लीन रहती है, तब वहां शिव रूप महातपा तथा उनकी शक्ति अभेदावस्था में विद्यमान है। इस स्थिति में शक्ति को खोज कर भी नहीं पाया जा सकता। किन्तु आत्मविमर्शन के साथ ही अन्तर्लीन शक्ति का विजृंभण प्रारम्भ हो जाता है। उसका संधान प्राप्त होने लगता है।

अहंबोध का उदय होते ही दिदृक्षा का उद्‌भव होता है। इसी के साथ-साथ वाह्य अवकाश का भी अनुभव होने लगता है। यह वाह्य अवकाश ,"मैं हूँ" इस बोध का प्रतिफल है। अस्तित्व बोध के साथ-साथ (मैं हूँ इस प्रत्यभिज्ञा के साथ-साथ) यह बोध विस्तृत होने लगता है। पूर्व में यह बोध अन्तर्लीन था। उस अवस्था में इसके विस्तार का कोई भी प्रयोजन ही नहीं था, परन्तु अब बोध के उन्मेष के साथ साथ उसका विस्तार अवश्यंभावी हो जाता है। शक्ति उन्मिषित अवस्था में कभी भी आवद्ध रूप से नहीं रहती। इसका कारण है कि उन्मिषित अवस्था मे उसको प्रतिवद्ध कर सकना, उसे रोक सकना असम्भव है। दुर्गासप्तशती मे भी कहा गया है कि शक्ति का कोई प्रतिवल नहीं है। वह एक ही अहंविमर्शात्मिका शक्ति सचराचर के रूप में प्रव्यक्त होती रहती है।

"अहं" की विस्तार प्रक्रिया ही अवकाश को जन्म देती है। यह विस्तार प्रक्रिया इच्छाजनित है। इच्छा ही इसका कारण है। वह स्वातंत्र्यरूपा है। यह क्यों होती है, कैसे होती है, नहीं कहा जा सकता। क्यों अथवा कैसे प्रभृति का उत्तर परिच्छिन्न भूमि में प्राप्त होता है, परन्तु जहाँ अप्रतिहत स्वातंत्र्य है, वहां इन प्रश्नों

को कोई स्थान ही नहीं है। इसका एक मात्र उत्तर है कि यह इच्छाजनित है। ऊपर जिस अवकाश की चर्चा की गई है, उसे ही (Space) दिक् का सृजन कहते हैं। यहाँ काल तत्व परिज्ञान भी आवश्यक है। काल भी इच्छाजनित ही है। काल (Time) तथा अवकाश (Space), दोनों का उद्भव इच्छा से ही होता है। इच्छा की पृष्ठभूमि में शक्ति एवं शक्तिमान परस्परतः अभिन्न रूप से विद्यमान रहते हैं, परन्तु अहंबोध की जागृति के साथ-साथ शक्तिमान के वक्षस्थल पर शक्ति का लास्य प्रारंभ हो जाता है। शक्ति का उन्मेष तथा अहंविमर्श का उद्रेक-दोनों एक ही स्थिति के पर्यायवाची हैं। अतः इच्छा भी वही स्थिति है। अहं विमर्श के साथ-साथ इच्छा शक्ति का प्रकाशन अवश्यंभावी है। अहंबोध, शक्ति का उन्मेष तथा इच्छा का उद्भव एक साथ होता है। इसमें कोई पौर्वापर्य का क्रम नहीं है। यह एक क्षण में होता है। यह क्षण अक्रम है। इसमें कम्पन नहीं है। यह शाश्वत अखण्ड तथा अनवयव है। यह मूल क्षण ही क्रमागत काल का कारण है। इसी एक परमक्षण के कम्पन से अनादि अनन्त काल समुद्र भासमान होता रहता है। युग-युगान्तरादि भी इसी एक क्षण के क्रमगत बोध के परिचायक हैं।

यहाँ जिस अवकाश का (Space का) उल्लेख किया गया, वह अहं विमर्श रूप महाबोध पर ही भासित होने लगता है। महातपा का (अधिष्ठाता का) यह स्वानुभूत अवकाश (Space) स्व इच्छा जनित है। यह उनकी दिदृक्षा का फल है। यह स्वानुभूत अवकाश चिन्मय है, क्योंकि वह चिन्मय सत्ता से उद्भूत है। तपः जनित है। महातपा की यह दिदृशा करुणा जनित है। क्योंकि उनके अहं विमर्श स्थिति में उपनीत होने का कारण है वह दिगदिगन्त व्यापी आर्त्तना ! इसका संप्रेक्षण करने के लिये उन्हें स्थान (Space) की सृष्टि करनी पड़ती है। अन्यथा अव्यक्त से व्यक्त में आनयन ही सम्भव नहीं हो सकता था। अव्यक्त में स्थित महातपा की सत्ता व्यक्त होने के लिये स्थूल आधार का निर्माण करती है। परमसूक्ष्म से किंचित स्थूलावस्था में आने के लिये स्थूल सृष्टि की आवश्यकता पड़ती है। श्रीभगवान भी जब अवतार लेते हैं, उसके पूर्व उनके धाम, परिकर आदि आविर्भूत होकर उन महा-अव्यक्त के व्यक्तीकरण की पृष्ठभूमि का निर्माण करते हैं। इसी प्रकार महातपा के स्थूल आयाम में आविर्भाव के साथ-साथ उनके स्थान (Space) का आविर्भाव होना आवश्यक है, अन्यथा महाकरुणा का आदर्श कहाँ प्रतिष्ठापित होगा ?

महातपा की दिदृक्षा से जिस अवकाश का सृजन होता है, वह है ज्ञानगंज ! यह महातपा के अव्यक्त धाम का व्यक्तीकरण है। इसकी यथार्थ स्थिति कहाँ है ? यह प्रश्न उत्थित होना स्वाभाविक सा है। कहा जा चुका है कि अहं विमर्श का आविर्भाव होने के साथ-साथ जिस अवकाश का उन्मेष होता है, वह महातपा (अधिष्ठाता) की दिदृक्षा का प्रतिफल है। यह दिदृक्षा क्यों होती है ? दृष्टि का तात्पर्य क्या

है ? यहाँ दृष्टि का तात्पर्य वस्तु का दर्शन नहीं है। यह दिदृक्षा सामान्य नेत्रेन्द्रिय द्वारा नहीं होती, क्योंकि उस स्थिति में जब अभी मन-बुद्धि का भी उदय नहीं हुआ है, तब इन्द्रियों का अस्तित्व हो ही नहीं सकता। इस संदर्भ में यह विचारणीय हैं कि उस स्थिति में शुद्ध बोध द्वारा ही दर्शन प्रक्रिया होगी। जैसे मयूर के अण्डे के अन्दर जो रस (तरल) पदार्थ है, उसमें कोई भी रंग परिलक्षित नहीं होता, तथापि उसी से निकले मयूर मे चित्र विचित्र रंगों के वर्णक्रम का विन्यास होता है। इसी प्रकार शुद्ध अहंबोध में समस्त इन्द्रियां, मन, बुद्धि, शरीर प्रभृति निहित हैं। इच्छाजनित काल क्रम द्वारा अवकाश मे (Space में) उन सबका बहि: प्रकाशन हो जाता है। अत: उस स्थिति में महातपा जो दिदृक्षा करते हैं, वह बोध के द्वारा सम्पन्न होती है। वह इन्द्रियों द्वारा सम्पन्न नहीं होती, इसलिये यह दर्शन सम्यक् दर्शन है, प्रकृष्ट तथा यथार्थ दर्शन है। इस दर्शन में द्रष्टा तथा दृश्य की सत्ता कहाँ से आविर्भूत होती है ? इस दर्शन में द्रष्टा तो स्वयं अधिष्ठाता महातपा हैं और दृश्य भी उनसे अभिन्न है। यह (अवकाश Space का) दर्शन अपने आप में अपना ही दर्शन है। वह अपनी ही चैतन्य सत्ता पर अपने से अभिन्न होने पर भी, अपने से भिन्नवत् प्रतीयमान अव-काश (धाम Space) का सृजन करते हैं। यह होता है इच्छा द्वारा।

इस स्थिति में ज्ञानगंज रूप महातपा का यह धाम दहराकाश में प्रतिफलित होता है। दहराकाश ही नित्यगुरु रूप महातपा का केन्द्र है। यह सहस्त्रदल से भी उर्ध्व उसकी कर्णिका में विद्यमान है। यह अष्टदल रूप है। यहाँ मन, बुद्धि अहंकारादि से परे महाभाव की क्रीड़ा होने लगती है। जिस आर्त्तना के केन्द्रीयकरण से महातपा में अहंविमर्श का उद्रेक हो सका था, उसके फलस्वरूप महाभाव के क्रोड़ से प्रेम का निर्गमन होता है। यह अप्राकृत, अनुपम प्रेमतत्व अधिष्ठाता महातपा के विमर्श में जगत्बोध का उन्मेष कराता है। जागतिक सत्ता का बोध इन्द्रियातीत, मन:तीत अवस्था में नहीं हो सकता। अत: प्रेमतत्व के संयोजन से उनमें क्रमश: महत्तत्व, बुद्धि तथा मन का गठन होने लगता है। यह महाभाव तथा प्रेमतत्व क्या है ? ज्ञानगंज के अनुसार महाभाव प्रेमतत्व का उत्स है। जब महातपा की अन्तर्लीन महाशक्ति जागृत होकर, अपनी अन्तर्लीनता एवं अभेदत्व को छोड़कर उनमें आत्म-विमर्श रूप से प्रतिफलित होने लगती है, तब महातपा अपनी महाशक्ति की व्यापकता एवं अनन्तता को लक्ष्य करके आत्मविभोर हो उठते हैं। वे अपनी इस महाशक्ति के प्रति जिस स्थिति में दृष्टिनि:क्षेप करते हैं, उससे ही महाभाव का प्राकट्य होता है। यह महाभाव महातपा की वह निर्निमेप दृष्टि है, जिससे वे अपनी महाशक्ति के उल्लास को लक्ष्य करते हैं। उस समय महातपा की दृष्टि में एकमात्र शक्ति ही दृश्य रूप में विद्यमान हो जाती है। अब जो शक्ति महातपा में अभेदत्व के साथ स्थित थी, वह अब उनकी दृष्टि का विषय हो जाती है। यही महाशक्ति दृश्य है।

इसके एकमात्र साक्षी तथा द्रष्टा हैं महातपा। यह द्रष्टत्व अथवा साक्षित्व ही महाभाव रूप से प्रकट होने लगता है। बहिर्गत होने पर ही शक्ति को देखा जा सकता है। यही है महातपा का असीम दर्शन। असीम यद्यपि नित्य अव्यक्त है, तथापि महातपा भी असीम होने के कारण इस नित्य अव्यक्त रूप स्वशक्ति के द्रष्टा हो जाते हैं। इस असीमत्व स्थिति में उस महाशक्ति में संकोच अथवा प्रसार की क्रीड़ा नहीं चलती। जहाँ दृश्य भी असीम है और द्रष्टा भी असीम है, वहीं महाभाव का प्रस्फुटन होता है। भाव में संकोच एवं प्रसार है, आरोह एवं अवरोह है, परन्तु महाभाव में संकोच-प्रसार अथवा आरोह-अवरोह की सत्ता ही नहीं रहती। सीमित में यह सब होता है, परन्तु असीम का तो प्रत्येक विन्दु पूर्ण है, अतः वहां इन सब की सत्ता पृथक् रूप से नहीं रह जाती।

महातपा की जिस दृष्टि की चर्चा की जा रही है, वह करुणादृष्टि है। जहाँ करुणादृष्टि है, वहां समदृष्टि नहीं रह जाती। धर्म की दृष्टि व्यापक तथा सर्वत्र विद्यमान है। धर्म की दृष्टि में न्याय तथा नियम है। वहाँ करुणा नहीं है। वह अखंड है, तथापि उसमें विच्युति नहीं है। जीवमात्र धर्म की दृष्टि से भयभीत सा रहता है। यद्यपि धर्म भी उसका साक्षी है, तथापि धर्म रूप ईश्वर में करुणा दृष्टि नहीं है, अतः वहाँ महाभाव प्रकट नहीं हो सकता। महातपा की दृष्टि ही करुणादृष्टि है। करुणा से ही जीवोद्धार संभव है। करुणा की दृष्टि से ही व्यक्ति, जीव, धर्मराज्य की सीमा का अतिक्रमण कर सकता है। जहाँ करुणादृष्टि है, वहाँ धर्म का नियम तथा न्याय तिरोहित हो जाता है। शास्त्र कहते हैं कि श्री भगवान की दृष्टि पड़ने पर जन्म-जन्मान्तर के पाप समूह तत्क्षण उच्छिन्न हो जाते हैं। अतः भगवान की दृष्टि करुणादृष्टि है। महातपा की दृष्टि भी करुणादृष्टि है। वहाँ कोई नियम कार्य नहीं करता। वहाँ महाभाव जनित महाकृपा ही कार्य करती रहती है।

ज्ञानगंज के अधिष्ठाता महातपा ही अखंड एवं पूर्ण सत्ता रूप हैं। वे सगुण साकार तथा निर्गुण निराकार, दोनों से अतीत हैं। अतीत होने पर भी वे ही सगुण हैं, वे ही निर्गुण हैं, सत भी हैं, असत् भी हैं। सर्वमय हैं। वे जिस आलोक में स्थित हैं, वह है अवस्थाहीन अव्यक्त आलोक! इसे कोई भी संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसी को यथार्थ स्वच्छ आलोक कहा जा सकता है। समग्र विश्व इसी आलोक से आविर्भूत होता है। महातपा ही महाइष्ट रूप हैं। ये समग्र सृष्टि के इष्ट रूप हैं। इनके रोमकूपों में अखण्ड ब्रह्माण्ड की स्थिति का द्योतन होता है। समग्र विश्व इनकी देह है। अधोलोकस्थ सर्वनिम्न प्रदेश से लेकर अर्थात् निरयह्लद तथा कालाग्नि भुवन से लेकर उर्ध्वलोक पर्यन्त, मायातीत स्तर समूहों से लेकर शिखरस्थ शिवव्योम पर्यन्त तक इनकी सत्ता का विस्तार है। महातापा की मूर्ति चिदानन्द से उच्छलित मूर्ति है।

महातपा का रूप मातृरूप अथवा विश्वजननी रूप से अभिन्न है। ये स्वयं ही इच्छाशक्ति, आनन्दशक्ति, चितिशक्ति, ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति की सम्मिलित मूर्ति हैं। इनकी ही शक्ति से साधक में शक्तिमत्ता का आविर्भाव होता है।

भृगुरामदेव तथा अन्य सत्ता समूह

ज्ञानगंज के अधिष्ठाता ने वहाँ का समस्त संचालन करने के लिये जिस महान् सत्व का गठन किया है, वे हैं भृगुराम देव। व्यावहारिक रूप से ये देदीप्यमान नराकृति हैं। इनका अस्तित्व पार्थिव मध्याकर्षण से रहित है। इस कारण इनका सर्वत्र गमनागमन आकाश मार्ग से ही होता है। इनके चरण कभी भी पृथ्वी का स्पर्श नहीं करते। खड़े रहने की स्थिति में भी भृगुरामदेव पृथ्वी से ७२ अंगुल ऊपर स्थित रहते हैं। इनकी गति अप्रतिहत है। कोई भी भौतिक आवरण इनका मार्गावरोध करने में समर्थ नहीं है। ज्ञानगंज की समस्त व्यवस्था इनके ही निर्देशन में चलती है। प्रशिक्षणादि व्यवस्था के भी कर्त्ता श्री भृगुरामदेव हैं। इनकी योग सम्पत्ति अगाध है। उसकी कोई इयत्ता नहीं है। भृगुरामदेव ही ज्ञानगंज तथा उसके अधीनस्थ समस्त स्तरों के शास्ता भी हैं। इनकी देह भी यथार्थ सिद्धदेह है। साधारणत: जिन सिद्ध देहों का वर्णन प्राप्त होता है, वह आकाश के समान नहीं होती। उसपर किसी कठोर वस्तु से आघात करने पर शब्द होता है, परन्तु जो सिद्धदेह आकाशवत् हो जाती है, उसमें आघात करने से कोई भी शब्द नहीं होता। जैसे आकाश में अथवा खाली स्थान पर हस्तसंचालन से कोई अवरोध परिलक्षित नहीं होता, यहाँ भी वैसा ही जानना चाहिये। अत: भृगुरामदेव की देह भी शून्यवत् (आकाशवत्) है।

यह अत्युच्च अवस्था है। जिस निरालम्ब पद का साक्षात्कार महायोगी करते हैं, उन महायोगियों का शरीर भी उसी प्रकार आलम्बनहीन हो जाता है। समस्त शक्तिसमूह मनुष्य की अन्तरात्म प्रकृति में सुप्त रूप से विद्यमान रहते हैं। इनके जागरण से अनन्त सौन्दर्यमय, मृत्यु रहित, स्वच्छ आकाशीय देहयुक्त विशिष्ट सत्ता की प्राप्ति हो जाती है। यही दिव्यजन्म कहा गया है। सामान्यत: सिद्धदेहों में अस्थि, मज्जा, त्वक् प्रकृति सब कुछ रहता है, मात्र रक्त नहीं रहता। रक्त का आश्रय लेकर ही कालवायु क्रियाशील होती है। रक्तहीन देह में कालवायु की सक्रियता समाप्तप्राय: हो जाती है। रक्त से ही मरणधर्म का जन्म होता है। जो इस प्रकार की सिद्धदेह को धारण करते हैं, वे साधारण मनुष्य के सम्पर्क में नहीं आना चाहते। साधारण मरणधर्मा मनुष्य से मिलने पर यह शंका होती है कि कालवायु के साथ रक्त का अंश सिद्धदेह में संचार कर सकता है! श्रीभृगुरामदेव की दिव्यदेह में यह स्थिति नहीं है। वह रक्तयुक्त सिद्धदेह है।

ज्ञानगंज में जितने भी विज्ञानों का प्रशिक्षण चल रहा है, उस सबमें भृगुराम देव का ही निर्देशन कार्यरत रहता है। भृगुराम देव का आविर्भाव भी एक रहस्य है। ब्रह्म से अतीत भूमि में संचित षोडश कलामय पूर्ण सत्ता की १५ कला ज्ञान-राज्य में अवस्थित है। ज्ञानराज्य की १५ कला से विश्वगुरु भृगुराम का गठन हुआ है। ३/४ कलांश भृगुराम के आधारभूत महातपा (अचलानन्द) के रूप में अवस्थित है। शेष १/४ कला का अवतरण इस मृत्युराज्य में विशुद्धानन्द के रूप में हुआ था। इस प्रकार १६ कलाओं का योग पूर्ण हो जाता है।

पहले यह कहा जा चुका है कि विश्वजगत् की आर्त्तना (अभाव बोध, अथवा आर्त्त पुकार) ही आविर्भाव का मूल है। अचलानन्द (महातपा) अनादि स्वरूप हैं। विश्वजगत् की आर्त्तना से आदि माँ का आविर्भाव होता है। दुर्गा सप्त-शती में भी यही कहा गया। दैत्यों से (अभाव से) पीड़ित देव, मनुष्यादि की करुणा भरी पुकार से ही जगद्धात्री का आविर्भाव हो सका था। जब अचलानन्द विश्व जगत् की आर्त्तना से क्षुब्ध होते हैं, तब वही है आदि माँ अथवा भावशक्ति। इन आदि शक्ति से श्यामांमां (कर्म शक्ति) अथवा श्यामाशक्ति का आविर्भाव होता है। ज्ञान गंज से सम्बन्धित शिष्य समूह के लिये श्यामां मां ही कर्मरत रहती हैं। ज्ञानगंज से सम्बद्ध जो व्यक्ति ज्ञानगंज में नहीं रहते (लोकालय में रहते हैं) उनके हितार्थं, विपत्ति शमनार्थ, अग्रगति के लिये श्यामा मां अनुष्ठान रत रहती हैं। आदि मां से श्यामाशक्ति का आविर्भाव होता है उमा शक्ति के कारण। उमाशक्ति (उमा माँ) ज्ञानात्मिका हैं। ज्ञानगंज में इनकी ही कृपा से अगाध ज्ञान का स्रोत सदा उन्मुक्त रहता है। ये प्रणवात्मिका हैं। इनका स्वरूप है ॐ माँ।

इस प्रकार से अचलानन्द (महातपा) के शक्ति त्रिकोण का ज्ञान होता है।

आदिशक्ति (आदि माँ)
अचलानन्द

श्यामाशक्ति	ज्ञानशक्ति
(श्यामा मां)	(उमा मां)

इन शक्तित्रय के द्रष्टा एवं साक्षी हैं अचलानन्द। वे स्वयं में ओतप्रोत हैं। उनके प्रथम क्षोभ से शक्तित्रय का उन्मेष हुआ है। वे स्वयं निष्क्रिय हैं, तथापि उनकी शक्ति कार्यरत है। वे हैं निरपेक्ष द्रष्टा ! स्वरूप में अवस्थित !

ज्ञानराज्य में उपरोक्त ॐ माँ की ध्वनि सदा निर्गत होती रहती है। यह महाध्वनि चतुर्दश भुवनों का अतिक्रमण करते हुये इस मर्त्यलोक में आ रही है। यह आती है आदिशक्ति, श्यामाशक्ति तथा ज्ञानशक्ति के द्वारा, तथापि इस विश्व में इस महाध्वनि को धारण करने वाला कोई नहीं है, अतः यह पुनः ज्ञानगंज में प्रत्यावृत हो जाती है, लौट जाती है। आदिशक्ति ही भावशक्ति है। भाव से ही ज्ञान के कारण

कर्म का उन्मेष होता है। भाव ही इच्छा है। इच्छाशक्ति ही आदिशक्ति है। यह भावशक्ति ही ज्ञानशक्ति एवं कर्मशक्ति का संचार विश्वजगत में कराने के लिये उद्यत रहती है। परन्तु यहाँ (मृत्युराज्य में) कोई भी यथार्थ ज्ञानशक्ति तथा कर्मशक्ति का धारक नहीं है। अतः शक्तिद्वय को पुनः ज्ञानगंज में लौट जाना पड़ता है। इसका कारण यह है कि शक्तिरूपी चेतना को धारण करने वाला पात्र है मन। योगसूत्र भाष्य के अनुसार देह से भी पूर्व में मन की सत्ता रहती है। प्राण तथा काल के आविर्भाव के साथ ही मन का भी आविर्भाव हो जाता है। (प्राण अर्थात् प्रकाश, काल अर्थात् अन्धकार)। सृष्टि के आदि में आलोक एवं अन्धकार का आविर्भाव होता है। यह आविर्भाव क्षण के प्रभाव से होता है। क्षण अर्थात् अतीत तथा अनागत (भूत एवं भविष्य) से रहित स्थिति। आदिसत्ता का साम्यभंग होता है क्षण के द्वारा और उसी साम्यभंग का स्वरूप है आलोक एवं अन्धकार! आदिसत्ता से आलोक एवं अन्धकार उत्पन्न होते हैं, परन्तु मन का आविर्भाव होता है क्षण से।

यह आदि मन अत्यन्त रहस्यावृत् अवस्था है। आविर्भाव के पूर्व यह क्षण में ही विद्यमान रहता है। सृष्टि के किसी भी शब्द अथवा भाषा के द्वारा क्षण के उत्पत्ति स्थल के सम्बन्ध में बतला सकना असम्भव सा है। वस्तुतः क्षण तथा मन, दोनों का उद्गम अदृश्य ही है। उन्मेष के अनन्तर भी इसका यथार्थ सन्धान नही मिलता। जब यह आलोक को स्पन्दित करता है (अचल प्राण को चलरूप स्पन्दित करता है) तभी इसका सन्धान प्राप्त हो जाता है।

जगत् में सब कुछ आदिसत्ता की इच्छामात्र से सृष्ट है, परन्तु मन के गठन में इच्छा भी कार्यकारी नहीं है, क्योंकि यह इच्छा के आविर्भाव से भी पूर्वकाल में आविर्भूत है। मन के आविर्भाव के उपरान्त इच्छा का उन्मेष होता है। उन्मेष काल ही में मन द्विधा विभक्त हो जाता है। अर्थात् वही एक मन आलोक में चञ्चल स्पन्दित रूप से और काल में निःस्पन्द भाव से विद्यमान रह जाता है। इस स्पन्दनावस्था तथा निःस्पन्दावस्था, दोनों में एकमात्र क्षण ही कारणरूप है। एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि आलोक एक आयाम में स्थित है। अन्धकार एक अन्य आयाम में स्थित है। दो वस्तु अथवा सत्ता के बीच में कुछ-न-कुछ रिक्त स्थान-अवकाश अवश्य रहता है। यह अवकाश स्थल ही मूलमन कहा गया है। यह समष्टि मन है। विश्व जगत का तथा विश्वातीत का भी मूल मन यही है। समग्र सृष्टि की तथा सृष्टि से अतीत की चेतना, अतन्त चेतना इसी मूलमन में अवस्थित रहती है।

इस मन का विखण्डन होने लगता है सृष्टि के उन्मेष के साथ-साथ। अर्थात् उसका एक अंश प्राण द्वारा तथा द्वितीय अंश अन्धकार (काल) द्वारा गृहीत हो जाता है। अब वह अखण्ड मन, खण्डरूप से प्रतीत होने लगता है। यहां जिस

आदि क्षण की बात कही गयी है, वही आदि शब्द है। शब्द में मन की क्रिया नहीं होती। शब्द में चैतन्य अथवा प्राण की क्रिया होती रहती है। शब्द अशरीरी स्थिति में भी क्रियाशील रहता है, परन्तु खण्डरूप होने के पश्चात् मन को शरीर की आवश्यकता हो जाती है। अशरीरी वाक् अथवा श्रुति की महिमा का कारण यह है कि वह मन के ऊपर आधारित नहीं है। अतः अशरीरी वाक् स्वतः प्रमाणरूप है।

यह कहा जा चुका है कि मन की खण्ड अवस्था ही शरीर निर्माण का कारण है। शरीर के निर्माण के अनन्तर मन से खण्ड समष्टिभाव भी तिरोहित हो जाता है और वह व्यष्टि भाव धारण करता है। इस व्यष्टि अवस्था में मन की सत्ता क्रमशः संकुचित हो जाती है। लोकलोकान्तर में तथा इस धरती पर असंख्य व्यष्टि देहों में मन की स्थिति व्यष्टि रूप में हो गयी है। प्रत्येक व्यष्टि मन अपनी समष्टि अवस्था की व्याप्ति से भी रहित हो चुका है। वह प्राक्काल में अनन्त चेतना धारण करने वाला अनंत अवकाश (पात्र) था, इसका भी सन्धान उसे इस व्यष्टि अवस्था में नहीं मिलता। इस कारण वह भावशक्ति द्वारा प्रदत्त कर्मशक्ति को समग्ररूप से धारण नहीं कर सकता। परिणाम यह होता है कि कर्मशक्ति उपयुक्त आधार के अभाव मे प्रत्यावृत हो जाती है (लौट कर चली जाती है)।

ज्ञानगंज में स्थित श्यामाशक्ति तथा ज्ञानशक्ति इस प्रत्यावृत स्थिति को आदि सत्ता पर्यन्त वापस नहीं जाने देती। इन शक्तिद्वय ने ज्ञान एवं कर्म का केन्द्रीयकरण करने का महत भार वहन करना स्वीकार किया है। श्यामा मां इस केन्द्रीयकरण से समष्टिमन के गठन में सहायक हो रही हैं। समष्टिमन का आविर्भाव दिव्यलोकों में नहीं हो सकता। समष्टिमन का यह गठन मृत्युराज्य में ही सम्भव है। अमर सत्वगण में यह शक्ति नहीं है। अतः ज्ञानगंज का गठन इस उद्देश्य में सहायक है। ज्ञानगंज दिव्यलोक मे स्थित नहीं है। यह मृत्युराज्य की ही भित्ति पर अवस्थित है, तथापि यह न तो दिव्यलोक है, न मृत्युलोक। मन की समष्टि स्थिति में इस मृत्युराज्य में ही मृत्यु अतिक्रान्त होगी और इसी मृत्युराज्य में अखण्डमहायोग का आविर्भाव हो सकेगा। ज्ञानगंज स्थित सिद्धसमूह इसी उद्देश्य को लेकर प्रयत्नशील हैं।

ज्ञानगंज की यह उपलब्धि रही है कि देवताओं से भी उत्कृष्ट एक वस्तु नर-देह में स्थित है। इस वस्तु के जागरण से जिस स्थिति का उदय होता है, उसकी तुलना में ब्रह्मपद भी तुच्छ ही है। इस अमूल्य वस्तु की उपलब्धि सृष्टि में अभी तक नहीं हो सकी है। यहां तक कि ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ, गोलोक आदि उच्चतम स्तर भी इस वस्तु से वंचित है। इस महावस्तु की प्राप्ति के पश्चात् ब्रह्मपद, विष्णुपद आदि भी तुच्छ प्रतीत होगा। यह वस्तु है अखण्ड समष्टि मन की प्राप्ति का अधिकार !

ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ आदि लोकों का गठन समष्टि मन के गठन के उपरान्त हुआ है, अतः वे अपने से पूर्व में स्थित सत्ता को कैसे जान सकते हैं ? केवलमात्र मनुष्य में यह अधिकार आदिसत्ता ने संरक्षित रख छोड़ा है। मात्र एकाग्र करने से मन का खंड भाव नष्ट नही हो सकता। इसके लिये सर्वप्रथम मन के दो महाखण्डों का सन्धान प्राप्त करना होगा। मन का एक महाखण्ड आलोक में तथा अन्य महाखण्ड अन्धकार में अन्तर्हित है। अतः आलोक के मन का कार्य सम्पूर्ण करते हुये अन्धकार स्थित मन का कार्य समाधित करना ही होगा। जब दोनों खण्डभाव का एकीकरण हो जाता है, तब स्वतः अखण्ड मन तथा अखण्ड प्राण आयत्त हो जाता है।

यह एकीकरण होता है कर्मशक्ति के द्वारा। इसमें माया का अंश नहीं रहता। यह मायारहित कठोर शक्ति है। ज्ञानशक्ति (उमा मां अथवा महामाया) तथा भावशक्ति (आदि मां अथवा महा महामाया) कर्मशक्ति (श्यामा मां) से अतीत हैं। अतः ज्ञानशक्ति तथा भावशक्ति में माया का अस्तित्व रहता है। योगीगण कर्मशक्ति (श्यामा मां) की महिमा को अधिक मानते हैं। अतः कर्मशक्ति ही एकमात्र उपास्य है। इसका आश्रय लिये बिना, अर्थात् ज्ञानगंज में श्यामा मां का आश्रय लिये बिना ज्ञानशक्ति तथा भावशक्ति पर्यन्त आरोहण नहीं हो सकता। कर्म की उपेक्षा करके जो ज्ञानशक्ति को प्राप्त करना चाहते हैं, वे आकाशकुसुम की प्राप्ति के लिये किये गये प्रयत्न के समान व्यर्थ प्रयत्न कर रहे हैं।

अतएव ज्ञानगंज में श्यामा मां कर्म का संचालन करती हैं। उनका उपदेश है कि कर्म को किये बिना (साधना रहित) शास्त्रालोचना व्यर्थ है। वह प्रकृतशास्त्र तो क्या, शास्त्राभास भी नहीं है। उससे ज्ञानशक्ति का संचार ही नहीं हो सकता। सृष्टि के मूल में भी कर्मशक्ति ही कार्यरत रहती है। वही समस्त पदार्थ की नियामिका है। जब तक सृष्टि का अतिक्रमण नहीं हो जाता (सहस्त्रार भेद नहीं हो जाता). तब तक कर्मशक्ति रूपिणी श्यामा मां का आश्रय तथा उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अवलम्बर्न अत्यावश्यक माना गया है। सृष्टि का अतिक्रमण करने पर ही यथार्थ शास्त्रालोचना हो सकती है, क्योंकि वह शक्तियुक्त शास्त्रालोचना है। तब उमां मां (ज्ञानशक्ति) के प्रभाव एवं कृपा से शास्त्रसमूह चेतनरूप में प्रकट होते हैं। वे जड़ पुस्तक अथवा भाषागत शब्दरूप नहीं रहते, प्रत्युत् वे चेतन तथा शक्तिमय अवस्था मे अपना तात्पर्य योगी को स्वयमेव समझा देते हैं। कर्मशक्ति रूपिणा श्यामा मां ज्ञानगंजस्थ शिष्यवृन्द को सृष्टि से अतीत स्थिति में प्रतिष्ठापित, उत्तीर्ण करती हैं। तदनन्तर ज्ञानशक्ति (उमां मां) की कृपा से प्राण तथा चैतन्य की प्राप्ति हो जाती है।

ज्ञानगंज के अनुसार उमां मां रूपी ज्ञानशक्ति की प्राप्ति भी पूर्ण प्राप्ति नही है। प्राणरूपी चैतन्य पुरुषोत्तम की प्राप्ति के अनन्तर भी योगी की गति का अवसान

नहीं होना चाहिये। जब उमां मां की प्राप्ति होगी है, तब श्यामा मां उनके अस्तित्व में प्रविलीन हो जाती हैं। अर्थात् ज्ञानशक्ति की उपलब्धि के अनन्तर ज्ञान के अस्तित्व में कर्मशक्ति का विलयन हो जाता है। गीता में भी श्रीभगवान कहते हैं कि समस्त कर्म तो ज्ञान में परिसमाप्त हो जाते हैं। यह उक्ति अक्षरश: यथार्थ युक्तिरूप है। ज्ञान-शक्ति की प्राप्ति के अनन्तर कर्त्तव्य रूप कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता। इतने पर भी अभी भी योगी मन को निजस्व नहीं कर सकता। कारण यह है कि मन निजस्व होता है अखण्ड मन की प्राप्ति के पश्चात् !

जब श्यामा मां उमां मां रूपिणी ज्ञानशक्ति में प्रविलीन होती हैं, उसी क्षण उमां मां रूपिणी ज्ञानशक्ति का विलयन आदि मां रूपिणी भावशक्ति में हो जाता है। कर्मशक्ति तथा ज्ञानशक्ति का मिलन होने पर भावशक्ति का प्रस्फुटन स्वयमेव होने लगता हैं। भावशक्ति ही यथार्थ एवं पूर्णशक्ति है। कर्मशक्ति (श्यामा मां) स्थूल रूपिणी है। ज्ञानशक्ति सूक्ष्मरूपा है। जब स्थूल तथा सूक्ष्म का पारस्परिक भेद तिरोहित है, दोनों का एकीकरण हो जाता है, तब अव्यक्तरूपा आदिशक्ति (भावशक्ति) की अभिज्ञता होने लगती है। भाव तो ज्ञान से अतीत तत्व है। ज्ञान की ज्ञानातीत भूमि को भाव कहते हैं। भावजगत् का भाव ही व्यक्त जगत् का आदर्श है। व्यक्त जगत् को इसी भाव जगत् पर्यन्त उन्नीत होना ही होगा। व्यक्त जगत् की जो भाव राशि है, वह यथार्थ भाव नहीं है, उसकी प्रतिच्छाया मात्र है। व्यक्त जगत् तथा भाव जगत् की समष्टि भावराशि को महाभाव कहते हैं। महाभाव में कुछ भी अव्यक्त नहीं रह जाता। जैसा भाव है, वैसी ही अभिव्यक्ति होती जाती है। महाभाव पूर्णज्ञान का ही रूप है।

समष्टि भावगत अवस्था में ही यथार्थ चैतन्य की प्राप्ति होती है। इसी स्थिति में सृष्टि की पूर्वावस्था के अन्धकार (काल) का घेरा छिन्न होता है। यह घेरा छिन्न होने पर इस लोक में प्रत्येक व्यक्ति के व्यष्टिमन के बीच जो पार्थक्य है, वह समाप्त हो जाता है। यही है समष्टिमन की उपलब्धि। यहां जिन आदि मां की चर्चा की गयी है, वे 'मां' से उद्भूत हैं। 'मा' अखण्ड अक्षत् कुमारी रूपा हैं। सृष्टि के किसी भी शब्द से उनकी पर्यालोचना नहीं की जा सकती। बस इतना ही कहा जा सकता है कि वे "मां" हैं। मन की समष्टि स्थिति किसी को उपलब्ध नहीं हो सकी है, इसी कारण "मां" के चारों ओर काल का आवरण-आवर्त्त स्थित है। जब मां, प्रकृति तथा प्रणव का एकीकरण होगा, तभी काल का राज्य अस्तमित हो सकेगा। इसी को सूर्य विज्ञान (अखण्ड महायोग) कहते हैं।

ज्ञानगंज का सिद्धान्त यह है कि काल इस सृष्टि में जाग्रत है। एकमात्र शरीर-धारी मानव ही उसे निर्वीज कर सकता है। चिन्मय दिव्यदेह से अथवा अमरसत्वगण

(देवगण) के प्रयास से भी काल का मूलोच्छेदन नहीं हो सकता ! रक्तयुक्त देहधारण की अवस्था में ही उसका मूलोच्छेदन किया जा सकता है।

कर्मशक्ति की महिमा अनन्त है। कर्म की उपेक्षा करके ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। कर्मशक्ति रूपा (श्यामा माँ) महाशक्ति ही स्वभाव सिद्ध स्वात्मज्ञान का पथ प्रदर्शित करती हैं। इनका स्थान सृष्टि कार्य के मूल में रहता है। जब तक सृष्टि का भेदन (सांख्योक्त समस्त तत्वों का भेदन) नहीं हो जाता, सृष्टि का अतिक्रमण नहीं हो जाता, तब तक श्यामा माँ (कर्मशक्ति) के अधीन रहना ही होगा। उमां माँ का कार्य क्षेत्र इसके पश्चात् है। जब सृष्टितत्व का अतिक्रमण हो जाता है, तब उमां माँ रूपी ज्ञानशक्ति का सान्निध्य प्राप्त होता है। कर्मशक्ति की कृपा तथा अनुष्ठान से सृष्टि का अतिक्रमण हो जाता है। सृष्टितत्व का अतिक्रमण हो जाने मात्र से प्राण एवं चैतन्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। ज्ञान (उमा मां) शक्ति की कृपा से प्राण तथा चैतन्य अधिगत हो जाता है।

प्राण तथा चैतन्य प्राप्त होने पर भी काल का संहारक्रम लुप्त नहीं हो सकता। ज्ञानीजन भी मृत्यु को नहीं जीत सके। अर्थात् उनकी देह का ध्वंस हो जाता है। मात्र ज्ञान की प्राप्ति से यह देह चैतन्य नहीं हो सकता। इस देह में जीवन काल में जो भी चेतनता परिलक्षित होती है, वह आत्मसत्ता अथवा जीवात्मा जनित है। जब जीवात्मा इस शरीर को त्याग देता है, तब यह देह निर्जीव हो जाता है। देह काल द्वारा ग्रसित हो जाता है। ज्ञान द्वारा देह प्रभावित नहीं हो सकता। देह में अमरत्व का संचार हो सकता है। यह संचार होता है मन के द्वारा। अब तक की प्रचलित सभी साधनाओं में मन को निरुद्ध कर देते हैं। उसकी तथा देह की उपेक्षा करते रहते हैं। अतएव मन तथा देह में चैतन्य संचरण नहीं होता। देह, प्राण तथा मन में एक तारतम्य का होना नितान्त आवश्यक है। इसका कौशल केवलमात्र आदि मां से ही प्राप्त हो सकता है। चैतन्य मन ही निजस्व मन है। यह आदिशक्ति (भावशक्ति) की अपनी शक्ति है। जबतक सृष्टि में निजस्वरूप समष्टि मन का विकास नहीं हो जाता, तब तक कालराज्य की लीला, संहार लीला चलती ही रहती है।

इस प्राप्ति के लिये कर्म, ज्ञान तथा भाव उत्तरोत्तर एक-एक सोपान रूप हैं। एक की उपेक्षा करके अन्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। इनमें कर्म प्राथमिक सोपान है। कर्म का सन्धान नहीं मिला है, अतः ज्ञान एवं भाव की आशा करना दुराशा ही है। कर्म का यह प्रभाव है कि यदि कृतकर्म में दोष है, तथापि हृदय में व्याकुलता है, उस स्थिति में दोष युक्त कर्म भी निर्दोष तथा शुद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता है। जब अच्छा-बुरा, सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि समस्त संवेग कर्मशक्ति के

प्रभाव से आत्मसमुद्र में विलीन होने लगते हैं, तब प्राण का सान्निध्य प्राप्त हो सकने की आशा दृष्टिगोचर होने लगती है। सेवा के द्वारा, सतत् उद्यम के द्वारा कर्मशक्ति (श्यामा मां) का प्रसाद प्राप्त हो सकता है। सेवाधर्म अतिगहन है। सेवाधर्म का मर्म योगीगण भी सम्यक् रीति से नहीं जानते। यह कार्य अत्यन्त सरल है, तथापि अति कठिन है। सेवा कार्य में कर्मशक्ति, ज्ञानशक्ति तथा भावशक्ति, इन तीनों का एकत्रीकरण हो जाता है। सेवा कार्य में ज्ञान, कर्म तथा भाव,

अनन्त लीला महारास भूमि
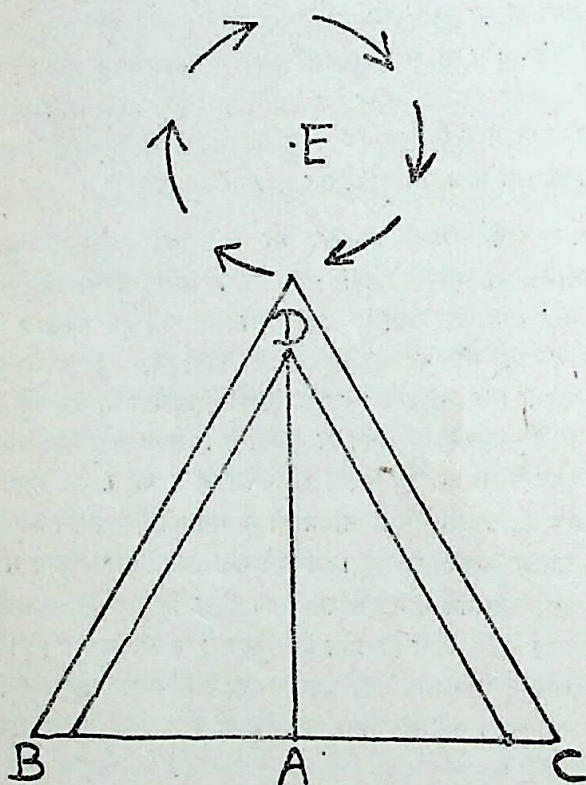
A = भाव, B = ज्ञान, C = कर्म, D = महाभाव, E = महारास

इस त्रयी का एकत्रीकरण एक विन्दु में हो जाता है। यह विन्दु ही मिलन विन्दु है। इस मिलन विन्दु में महाभाव स्फुरित होता है। सेवाकार्य महाभाव की सत्ता का प्रत्यक्ष कराता है। गोपियां इसी सेवा कार्य का व्रत लेकर महाभाव पर्यन्त उन्नीत होने की साधना करती रहती हैं। कर्म का स्थल है देह, ज्ञान का स्थल है आज्ञाचक्र; भाव का स्थल है सहस्त्रार ! परन्तु महाभाव सहस्त्रार से भी अतीत है। वह अनन्त

में स्फुरित होता है। महाभाव पर्यन्त स्थिति होने पर त्रिकोण अथवा रेखा की कोई स्थिति नहीं रह जाती। अनन्त में ज्योति अथवा प्रकाश का प्रक्षेपण करने पर वह चक्राकार हो जाती है। यही है अखण्ड मण्डलाकार ज्ञानगंज। यह अत्यन्त गुप्त रहस्य है, जिसे केवल ज्ञानगंज के अधिवासीगण ही जान सकते हैं।

जब तक देहाभिमान वर्तमान है (अर्थात् देह को "मैं" मानता है) तब तक स्थूल सेवा रूपी कुमारी सेवा की आवश्यकता है। चैतन्य (गुरु) सूक्ष्म है; परन्तु शिष्य तो स्थूल है। कुमारी सेवा करने से स्थूलत्व विगलित होने लगता है। कुमारी शक्ति चैतन्यमयी है। इनकी सेवा से जड़देहस्थ दुष्कृति का विनाश होता है। कुमारी शक्ति की कृपा से मलिनता दूर हो जाती है। इसी से भाव शुद्धि भी होती है। यही सेवा प्राक्तन कर्म का विनाश करने में सक्षम भी है। देह रहने तक कर्म करना होगा। अत: ऐसा कर्म करना चाहिये जिससे कर्म बन्धन चिरकाल के लिये छिन्न हो सके। जैसे स्थूल रूप से कुमारी कन्या को भोजनादि उपचार द्वारा पूजित किया जाता है, वैसे ही कुमारी पूजन की सूक्ष्म सत्ता भी है। सुषुम्नान्तर्गत ब्रह्मनाड़ी ही सूक्ष्म कुमारी रूपा है। इसका पूजन अन्त:प्रवेश तथा ध्यान द्वारा किया जाता है। यह सूक्ष्म कर्म (संस्कार) की विनाशिनी है, यह स्मरण रखना चाहिये। यही मध्य पथ है।

जपरहस्य

सर्वप्रथम कुमारी सेवा आवश्यक है। यही ज्ञानगंज का विधान है। तदनन्तर जप की आवश्यकता है। जप के सम्बन्ध में जो आलोचना की जा रही है, वह अखण्ड महायोग (सूर्य विज्ञान) पर आधारित है। जप से आन्तरिक निर्माण कार्य चलता है। आन्तरिक शान्ति उदित होती है। कुछ लोग यह कहते हैं कि जप करने पर भी अन्तर्मुखी गति का उदय क्यों नहीं होता ? इसका चरम लक्ष्य क्या है ? साधारणत: जप तीन प्रकार से किया जाता है। वाचिक, उपांशु एवं मानस। वाचिक जप निम्नावस्था है। मानसिक जप सर्वश्रेष्ठ स्थिति है। मानसिक जप सबको आयत्त नहीं हो सकता, इसी कारण उपांशु जप की व्यवस्था की गई है। यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि जप का यह निम्न अथवा श्रेष्ठ स्तर व्यवहार दृष्टि से है। अध्यात्म दृष्टि से तीनों जप विधि की विशिष्टता में कोई भेद नहीं है। वैखरी जप में वाह्य वायु की आवश्यकता पड़ती है। उसमें कण्ठ प्रभृति स्थानों पर वायु का आघात होना आवश्यक सा है। वास्तव में उपांशु जप में वायु की आवश्यकता अत्यन्त न्यून ही रह जाती है। यद्यपि मानसिक जप में वायु की कोई भी आवश्यकता नहीं रहती, तथापि साधारण मनुष्य वाह्य वायु के साथ सम्बन्ध भंग करके मानसिक

जाप नहीं कर सकते। यदि बाह्यवायु रहित अवस्था में मानसिक जप किया जा सके, उस स्थिति में श्वास की गति में विलक्षणता आ जाती है। अतः यह ज्ञात रखना चाहिये कि प्रथमावस्था में किसी भी प्रकार से जप करने पर उसमें बाह्य वायु का सहयोग लेना ही पड़ता है।

वैखरी जप मातृका, किंवा वर्णमाला द्वारा सम्पन्न होता है। वर्णमाला वायु की संहति से उत्पन्न होती है। अतः जब मन वर्णात्मक शब्द का चिन्तन (मानसिक जप) करता रहता है, तब बाह्य वायु की सहायता लेनी ही पड़ती है। बाह्य वायु की क्रिया होने पर कण्ठादि उच्चारण यंत्र पर आघात होना अवश्यंम्भावी है। जब जप करते-करते जापक आपेक्षिक उत्कर्ष प्राप्त करता है, तब स्वभावतः कंठरोध हो जाता है। यह कंठरोध इच्छा अथवा चेष्टाजनित नहीं होता।

अब विन्दु क्षुब्ध होकर प्रवाहशील नाद में परिणत होने लगता है। नाद तथा वायु के संघर्षण से वर्णमाला का प्रकाशन होता है। अतः वर्णमाला का आश्रय लेकर जप अथवा शब्द की आवृत्ति करने से बाह्य वायु का स्पर्श होना स्वाभाविक है। इस बाह्य स्पर्श के कारण अन्तर्मुखी गति बाधित होती है। अतः अन्तर्मुखी गति के लिये बाह्य वायु क्षेत्र से आभ्यन्तरीण वायु क्षेत्र में प्रवेश करना ही होगा। सर्वप्रथम वायुमण्डल का भेद करते हुये आकाश मण्डल में प्रवेश करना चाहिये। आकाश के भी अनेक स्तर हैं। वायु भी अनेक स्तर युक्त है। आकाश का सर्वोच्च स्तर भेदन हो जाने पर बिशुद्ध चैतन्य राज्य में प्रवेशाधिकार मिल जाता है। यह चैतन्य राज्य चिदाकाश पर्यन्त विस्तृत है। चिदाकाश ही आकाश का सर्वोच्च स्तर कहा गया है।

गुरुदत्त शक्ति का आश्रय लेने पर उद्यमशील साधक को अन्तर्मुखी प्रवाह प्राप्त हो जाता है। कालराज्य की परिणति स्वाभाविक हो जाती है। जैसे बालक बिना चेष्टा के ही समय पर युवक हो जाता है और युवक स्वतः वृद्ध होता है, उसी प्रकार से परा पर्यन्त की गति प्राप्त करने के लिये योगी को पृथक् चेष्टा नहीं करना है। वैखरी से मध्यमा में स्वतः संचार हो जाता है। यही प्रकृतिगत नियम है। पुनः-पुनः वैखरी अवस्था में जप साधना करते रहने से कंठद्वार रुद्ध होता है और हृदय द्वार उन्मुक्त हो जाता है। यह चिदाकाश भेदन है। यहां जो है, उसे यद्यपि आकाश ही कहते हैं तथापि वह दहराकाश रुपी एक अलौकिक आकाश है। गुरुशक्ति युक्त वैखरी का अभ्यास करते-करते वैखरी विलीन हो जाती है तथा मध्यमा में प्रवेश होता है।

जब तक साधक वैखरी में निविष्ट है, तब तक वह विकल्पभूमि में ही विद्यमान है। वैखरी में इन्द्रियों की ही प्रधानता रहती है। उसके साथ मन की भी सत्ता कार्यशील रहती है। वैखरी भूमि में बाह्यप्रमेय बाह्यता) प्रधान है। जब वैखरी से मध्यमा में प्रवेश होता है, तब इन्द्रियों की सक्रियता नहीं रह जाती। वैखरी में

देहात्मबोध स्पष्ट रूप से लक्षित होता है, और साधक में कर्तृत्व का अभिमान भी रहता है। मध्यमा में यह अभिमान क्षीण रहता है, तथापि विकल्प का उदय इस स्थिति में अनुभूत होता है। वैखरी जप करते-करते स्वयमेव मध्यमा की प्राप्ति हो जाती है। साधारण जप की मात्रा द्रुत अथवा विलम्बित न होकर मध्यम ही रहना चाहिये। इस प्रकार से नियमतः जप करने से ध्यानावस्था सम्प्राप्त हो जाती है। यह ध्यान स्थायी नहीं होता। अतः पुनः ध्यान से जप में स्थिति हो जाती है। योगी की दृष्टि में जप क्रियायोग का अंग है और ध्यान समाधि योग का अंग है। दोनों का ही अनुशीलन करना आवश्यक सा है।

इस प्रकार ध्यान की अवस्था के साथ मध्यमा की क्रिया प्रारम्भ होने लगती है। अब वैखरी वाक् निरुद्ध है। देहात्मबोध भी अत्यन्त क्षीण है। बहिर्मुखीन भाव भी निरुद्ध है और अन्तर्मुख गति की सूचना मिलने लगी। इस अवस्था में नाद का प्रसार प्रारम्भ हो जाता है। वर्णात्मिका मातृका विलीन होकर ध्वनि रूप में परिणति प्राप्त करती है। इस अवस्था में हृदयद्वार उन्मुक्त हो उठता है। यद्यपि अब भी वायु की क्रिया है, तथापि वह आभ्यन्तरीण वायु है। इस स्थिति में अनादि-अनन्त नादध्वनि श्रुतिगोचर होने लगती है। यह नादध्वनि अत्यन्त विशाल है। इसी में वर्णात्मिका मातृका का विलयन हो जाता है। जैसे तरंगों के लीन हो जाने पर एकमात्र जल शेष रहता है, उसी प्रकार वर्णात्मिका तरंग के विलीन हो जाने पर भी ध्यानात्मक शब्द ही स्वप्रभाव के कारण नादरूप में प्रकाशित होने लगता है। प्रथमतः इस नाद में वर्णात्मक नाम (मंत्र) कीं तरंग रहती है, किन्तु साधक के कर्तृत्वाभिमान का अवसान हो जाने पर, वह नाद में स्वयमेव उच्चारित होने लगता है। अब उसका पृथक् रूप से उच्चारण करने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

यह एक प्रकार से ब्रह्मनिर्घोष है। यद्यपि यह नादध्वनि वर्णात्मक नहीं है, तथापि इसे प्रथमतः वर्णात्मक शब्द के रूप में सुना जाता है। यह ध्वनिमात्र है। उसमें वर्ण संघात नहीं है। संस्कार के कारण उसमें वर्णात्मक प्रतीति होती है। इस समय साधक श्रोता रूप हो जाता है। इस स्थिति में श्रोता अपने आभ्यंतर से उच्चारित मंत्र अथवा नाम का ध्वन्यात्मक रूप मनोयोग से सुनने में समर्थ होता है। उपनिषद ने जिस श्रवण मनन की बात कही है, वह यही अवस्था है।

निरन्तर हृदयोत्थित नादध्वनि का श्रवण करते-करते इस ध्वनि से वर्णात्मक आभास उच्छिन्न हो जाता है। अब निराभास नादध्वनि उठने लगती है। क्रमशः अन्तःकरण की शुद्धि तथा चिदाकाश की निर्मलता का प्रकाशन होता है। सामान्य व्यक्ति अपने नेत्र बन्द करने पर जिस अन्धकार को देखते हैं, वह उनके ही हृदय का अन्धकार है। मध्यमा वाक् के क्रमिक अभ्यास के द्वारा यह अन्धकार समाप्त हो जाता है और चिदाकाश दृष्टिगोचर होने लगता है। अब नादध्वनि भी क्रमशः क्षीण

हो जाती है। इस प्रकार की अवस्था का उदय होने पर ज्ञात होता है कि अब मध्यमा का अवसान होने वाला है। यही है चित्तशुद्धि। चित्तशुद्धि के अनन्तर अन्धकार तथा ध्वन्यात्मक शब्द भी निवृत्त हो जाते हैं। यही "आध्यात्मिक उषा" है। इस अवस्था में मन निरुद्ध होकर चिदाकाश की ओर उन्मुख हो जाता है। अभी प्रकाशोदय नहीं है, तथापि अन्धकार निवृत्त है। अतः इसे उषाकाल कहते हैं। जो शब्द आभ्यन्तरीण रूप से श्रुतिगोचर हो रहा था, वह अब सुनने में नहीं आता। इस स्थिति में चिदाकाश में एक ज्योतिमण्डल उदित होता है। योगी की दृष्टि इस पर निबद्ध हो जाती है। यह पश्यन्ति स्थिति है।

इस मण्डल पर एकाग्र होते ही देह की स्मृति नहीं रह जाती और मन की क्रिया भी अस्तमित हो जाती है। साधक (योगी) की निष्ठा निराकार तथा निर्गुण सत्ता की ओर रहने पर वह ज्योतिमण्डल निकटवर्ती होते-होते उसके साथ तादात्म्य लाभ करता है। अब ज्योतिभेद होकर परावाक् में स्थिति होती है। जो साधक साकारोपासक हैं, उन्हें इस ज्योतिमण्डल में इष्टदेव का दर्शन मिलता है। क्रमशः वह इष्ट सत्ता अपनी सत्ता में साधक को मिला लेती है, अथवा साधक में विलीन हो जाती है। निराकार साधक को ज्योतिमण्डल में अपना स्वस्वरूप उद्भासित प्रतीत होता है। यह समस्त वैचित्र्य भावसापेक्ष है। (इसी स्थिति को लक्ष्य करके "जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी" की उक्ति का अंकन हुआ) जब यह विलीनता सम्पन्न हो जाती है, तब द्रष्टा एवं दृश्य का भेद भी विलीन हो जाता है। यह सब रूप आत्मा का ही रूप है। साक्षात्कार का होना अभिन्नावस्था का प्रतीक है। इस साक्षात्कार को पश्यन्ति, मंत्र साक्षात्कार अथवा इष्ट साक्षात्कार कहते हैं। प्राक्काल में इस अवस्था को प्राप्त योगीगण ऋषि कहलाते थे। यहाँ मन नहीं रह जाता। इन्द्रिय क्रिया भी नहीं रहती। विश्वजगत् का भान नहीं रहता। केवल चैतन्यमय स्वरूप की सत्ता ही अवशिष्ट रह जाती है।

इतना होने पर भी यह खण्ड अवस्था ही है। इसकी भी पूर्ण परिणति है। तब खण्ड सत्ता ही अखण्ड सत्तात्मक आत्मप्रकाश करती है। इसे उन्मनी अवस्था आत्मा का निष्कल साक्षात्कार अथवा परावाक् कहते हैं। यह पराशक्ति स्वरूपान्तर्गत है। मन्त्रसाधना अथवा ज्ञान साधना का यही चरम लक्ष्य है।

जप क्रिया के प्रभाव से यह स्थिति प्राप्त होती है। अब वक्रगति अस्तमित हो जाती है। सरलगति भी बिन्दु में एकाकार हो जाती है। शिवशक्ति सामरस्य स्वतः प्रकाशित हो जाता है। आगम में इसे आत्मा का पूर्ण विकास कहते हैं। इसकी भी परावस्था का उल्लेख मिलता है। अर्थात् परावस्था की भी परावस्था है। विशुद्ध चैतन्य का पूर्ण विकास होने पर इसमें स्थिति लाभ होता है। जप की पूर्ण परिणति के कारण यह आत्मविकास सम्यक्रूपेण प्रकट होता है।

क्रम-विकास

मनुष्य देह अत्यन्त दुर्लभ है। इसके अभाव में पूर्णत्व तथा भगवत् मिलन नहीं हो सकता। प्रकृति तथा पुरुष का संयोग होने पर, जीव तथा जगत सृष्ट होता है। ८४ लक्ष योनिभेदन के अनन्तर दुर्लभ मनुष्य देह प्राप्त होता है। अन्य स्थावर जंगम जीव निम्नतर अवस्था से उच्चतम (मनुष्य) अवस्था पर्यन्त प्रकृति की क्रमविकास धारा के अनुगमन से उत्थान करते हैं। प्रत्येक जीवदेह में चिद् अंश आत्मरूप से तथा अचिद् अंश देहरूप से विद्यमान रहता है। क्रमविकास मार्ग में देह विकास के साथ-साथ भोक्तारूपी आत्मा का भी विकास संघटित होता है। उपनिषद् इस विकास को अन्नमय कोष से प्राणमय कोष का विकास कहते हैं। प्रत्येक कोष में असंख्य जटिलता परिस्फुट होती है। प्राण का विकास पूर्ण होने पर मन का विकास होना आवश्यक है। प्राणमय कोष के विकास का फल यह है कि मन का पूर्वाभास स्फुरित हो जाता है, तथापि यथार्थ मनोमय कोष का विकास ८४ लक्ष योनि भेदन करने पर ही सम्पादित होता है। जिस देह में मनोमय कोष का विकास हुआ है, वही है मनुष्य देह। ८४ लक्ष योनि का भेदन करते-करते विभिन्न स्तर युक्त अन्नमय तथा प्राणमय कोष का विकास सम्पन्न हो जाता है। समस्त जीवदेहों में मन विकसित नहीं है, अतः उनकी उन्नति का पथ उन्मुक्त नहीं होता। मनुष्य देह प्राकृतिक क्रम विकास का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

मनुष्य देह का गौरव समस्त धर्मों में स्वीकृत है। साकार भगवद् आकृति भी मनुष्य के ही अनुरूप है। वृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा को पुरुषाकृति कहा गया है। मनोनय कोष से संश्लिष्ट षट्चक्रादि चक्र तथा केन्द्र समूह मनुष्य देह में ही यथार्थतः विकसित हैं। विवेक तथा विचारशक्ति में मनुष्य ही उत्कर्षशील है। यह शक्ति मनुष्य देह में ही उत्कर्ष प्राप्त करती है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि मात्र मनुष्य देह प्राप्त हो जाने से ही वह सर्वांगीण पूर्णता प्राप्त करेगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

प्राथमिक अवस्था में मनुष्य पशु से आकृति में श्रेष्ठ है, तथापि उसकी प्रकृति पशु के ही अनुरूप है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, प्रभृति पाशविक वृत्ति मनुष्य की प्राथमिक अवस्था में स्थित रह पाती है। क्रमशः इनका क्षय होते जाने से मनुष्य भाव उदित हो जाता है। पाशविक अवस्था में मनुष्य में नैतिक आदर्श नहीं रहते। यद्यपि नैतिक उत्कर्ष का वीज मनुष्य में विद्यमान है, तथापि उसका विकास होना काल एवं साधना के अधीन रहता है। अतः प्राथमिक अवस्था के मनुष्य के जीवन का प्रधान लक्ष्य होना चाहिये नैतिक जीवन की उन्नति। योगशास्त्र में ब्रह्मचर्य,

अहिंसा, सत्य, प्रभृति यम समूह नैतिक जीवन के द्योतक हैं। यह सार्वभौम धर्म है। सभी वर्ण तथा सभी आश्रम के लिये यह समानरूप से अनुष्ठेय है। इसी नैतिक नियमों पर ही धर्म जीवन का प्राचीर खड़ा है। बौद्ध विद्वान शील, समाधि तथा प्रज्ञारूपी साधन जीवन का निर्देश देते हैं। पंचशील अथवा दशशील का अभ्यास करना साधन जीवन का मूल स्तम्भ है। इसमें देशगत अथवा कालगत कोई भी भेद नहीं है। यही सार्वभौम धर्म है। ज्ञानगंज इसका समर्थन करता है।

प्रत्येक वर्ण तथा आश्रम का यही अन्तरंग साधन है। इसी प्रसंग में योग्य अधिकारी के लिये निष्काम कर्म की भी व्यवस्था है। गीता में निष्काम कर्म का भूरिशः वर्णन किया है। निष्काम कर्म से व्यक्तिगत कल्याण होने के साथ-साथ सामाजिक कल्याण भी होता है। फलाकांक्षा छोड़ते हुये, शुद्धभाव से कर्मानुष्ठान करने से कर्म का बन्धन टूट जाता है और चित्त निर्मल होकर प्रकाशित हो जाता है। इस अवस्था में आत्म तथा आत्मेतर का निगूढ़ भेद क्रमशः शिथिल होता जाता है और कर्तृत्वाभिमान की कोई भी सत्ता नहीं रहती। जिन ग्रथियों से जीव आवद्ध है उनमे अहँकार ग्रंथि प्रधान है। प्रकृति के गुण से कर्म सम्पन्न होता है। यह न मानने वाला व्यक्ति कर्त्तृत्व के अहंकार से व्यस्त होकर यह मानता है कि सभी क्रिया वह स्वयं कर रहा है। मनुष्य क्रिया अभिमान के अधीन है। जब तक इस अभिमान की निवृत्ति नहीं हो जाती, तव तक वह स्वयं को कर्त्ता मानने के लिये बाध्य है।

निष्काम कर्म अनुष्ठान काल में साधक में कर्त्तृत्वभिमान रहता है। अतः वह कर्म करता है। निष्काम को फल की आकांक्षा नहीं रहती। उसकी ग्रंथि उच्छिन्न है, चित्त निर्मल है। जव अभिमान (देहाभिमान) अत्यल्प रह जाना है, तब श्रीगुरु शिष्य को आश्वासन देते हैं। अर्थात् देहाभिमान गलित हो जाने से, जव वह स्वयं की देहातिरिक्त उपलब्धि करता है, तव श्री भगवान अन्तर्गुरु के रूप में शिष्य को स्नेहस्पर्श रूपी आश्वासन देते हैं। अब जीव समस्त कर्मानुष्ठान से विरत होकर श्री भगवान के निर्देशानुसार एकमात्र उनके ही उपर निर्भर हो जाता है। भगवत् आदेश का तात्पर्यार्थ यह है कि जो जीव अन्य किसी भी ओर लक्ष्य न रखकर एकमात्र उन्हे ही सर्वमूल जानकर विश्वास स्थापना करता है, और उनकी शरण लेता है, उस जीव को श्री भगवान समस्त पापभार से मुक्त कर देते हैं।

श्री भगवान का आश्रय प्राप्त होने पर जीव के चित्त में शुद्धि का संचार होता है। अव उसे कर्मप्रक्रिया की कोई भी आवश्यकता नहीं रह जाती। वे स्ववं जीव को पापों से मुक्त कर देते हैं। इसे एकायन मार्ग कहा गया है। ज्ञानगंज के अनुसार इससे षडध्व शुद्ध हो जाता है। अब उस जीव का योगक्षेम श्री भगवान ही वहन करते हैं। जीव साक्षीरूप से अथवा द्रष्टारूप से उनका आश्रय लेकर उनकी समस्त

लीला का दर्शन करता रहता है। अब जीव द्रष्टा है और भगवान कर्त्ता हैं। इस स्थिति में जीव का कोई भी पृथक् कर्त्तव्य नहीं रह जाता। भगवान स्वयं ही अनुगत जीव के समस्त दायित्व का वहन कर लेते हैं। यही प्रकृत अध्यात्म जीवन अथवा "Spiritual life" है। इसे नैतिक जीवन (Moral Life) से अत्युन्नत अवस्था कहते हैं। इन स्थिति में भगवान की शक्ति साधक में अगाध रूप से क्रिया करती रहती है।

यही है कृपाशक्ति ! इसे भगवत् शक्ति भी कहा गया है। यह जीव को शोधित करके निजस्व करती है। इस अवस्था में जीव की समस्त मलिनता दूर हो जाती है और उसका विशुद्ध चिन्मय स्वरूप उन्मुक्त हो उठता है। इस परिवर्त्तन के कारण जीव का देह, मन, प्राण तथा बुद्धि भी संस्कृत हो जाती है। उसके अस्तित्व में आमूल परिवर्त्तन होने लगता है। केवल मात्र देहादिक ही नहीं परन्तु उसकी अहंकारादि महतत्वमयी सत्ता भी चिन्मय रूप में आत्मप्रकाश करने लगती है। इस प्रकार से जीवदेह से लेकर अहंसत्ता पर्यन्त समस्त उपकरण अचित् भाव से मुक्त होकर चिन्मयत्व से ओतप्रोत हो जाते हैं। तदनन्तर चिन्मय आकार सम्पन्न जीव, अब प्राक्कालीन बद्धजीव नहीं रह पाता। इस अवस्था की प्राप्ति के पश्चात् जीव का प्राकृत शरीर दिव्य शरीर रूप में परिणाम प्राप्त करता है। यह परिस्थिति जीव के अमृतत्व लाभ का पूर्वाभास है। कुण्डलिनी रूपा तन्द्राच्छन्न चित्शक्ति तन्द्रा से मुक्त होकर साक्षात् चिदानन्दमयी हो जाती है।

नैतिक जीवन के अनन्तर आध्यात्मिक जीवन का यही रहस्य है। आध्यात्मिक जीवन प्राप्त हो गया तथा भगवान का अनुग्रह अनुक्षण्ण प्राप्त है, इस अवस्था में दिव्यजीवन का सूत्रपात हो जाता है। इस स्थिति में प्रकृति की क्रिया नहीं रह जाती। माया का प्रभाव भी नहीं रहता। एक चिन्मय लोकोत्तर सत्ता ही अवस्थान करती है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि आध्यात्मिक उन्नति के क्षेत्र में सर्वाधिक बाधा है कर्त्तृत्वाभिमान। यह अभिमान विगलित हो जाने पर कुण्डलिनीरूपा महाशक्ति अनादि सुषुप्ति से जाग्रत हो जाती है और क्रमशः उद्‌बुद्ध होकर सहस्त्रार की ओर अग्रसर होने लगती है। वहां अमृत विन्दु विगलित कर दैहिक तथा मानसिक उपादान को परिशुद्ध कर देती है। इसकी परिणति है परा भगवती शक्ति का उन्मेष। अध्यात्म जीवन का यही मुख्य क्रमत्रय कहा गया है। इस प्रकार नैतिक जीवन से अध्यात्म जीवन की ओर प्रगति होती है। अध्यात्म जीवन से दिव्यजीवन की ओर विकास होता है। किंबहुना नैतिक जीवन से अध्यात्म जीवन का उत्कर्ष तथा अध्यात्म जीवन से दिव्यजीवन की श्रेष्ठता स्वभावतः सिद्ध है। नैतिक जीवन में कर्त्ता जीव स्वयं को कर्त्ता मान लेता है। अध्यात्म जीवन में अहंकार के निर्मल हो

जाने के कारण देहाभिमान स्पष्टभाव से स्फुरित नहीं होता। परिणामस्वरूप चिद्-अभिमान जाग्रत हो जाता है। यह शुद्ध अभिमान है। इसके अनन्तर अध्यात्म जीवन से दिव्यजीवन के रूप में रूपान्तरण घटित हो जाता है। दिव्य जीवन की परिणति है पूर्ण अहंभाव का सम्यक् विकास।

८४ लक्ष योनियों में अहंभाव से विकास के उपयोगी उपादान का संग्रह सूक्ष्मरूप से क्रमशः होता है। तदनन्तर मनोमय कोष के विकास के साथ मनुष्यदेह प्राप्ति के फल से प्रकृत अध्यात्म जीवन प्राप्ति की सूचना मिलती है। इसके पश्चात् अध्यात्म जीवन के रूपान्तरण की अभिव्यक्ति के साथ-साथ दिव्यजीवन प्रारंभ होता है। दिव्य जीवन की पूर्ण परिणति है सोऽहं अथवा पूर्णाहं। इसके पश्चात् अवस्थान्तरण संभव ही नहीं है। यही है "साकाष्ठा स परागतिः"। मनोमय कोष के पश्चात् विज्ञानमय कोष का विकास होते समय दिव्य जीवन का प्रारंभ हो जाता है।

यहां जिस दिव्यजीवन की विवेचना की गयी है, वह सब व्यक्तिगत व्यष्टिगत उपलब्धि है। इस उपलब्धि से किसी एक आत्मा का (जो इस पथ पर चल रहा है उसी का) ही विकास होता है। समग्र जगत इस उपलब्धि से वंचित रह जाता है। अतः अत्युच्च अवस्था होने पर भी इसका मूल्य कुछ भी नहीं है। दिव्य जीवन में उपनीत कतिपय आत्मायें, इस तथ्य को जानकर ज्ञानगंज में अखण्ड महायोग के पथ पर संचरण करने में प्रयासरत हैं। यह भी सत्य है कि दिव्य जीवन में उपनीत हो जाने के पश्चात् उनके द्वारा अखण्ड महायोग का कर्म यथायथ रूप से निष्पन्न हो रहा है।

कर्म के अंग

कर्म के तीन मुख्य अंग होते हैं। प्रथम है क्रिया, द्वितीय है जप तथा तृतीय को सेवा कहा गया है। कर्म तथा सेवा का वरण करना अत्यावश्यक है। इसका वरण गुरुपूर्णिमा के दिन करना चाहिये। मातृसेवा ज्ञानगंज की चिरकाल से आचरित प्रथा है। वहाँ के महायोगीगण इसे करते रहते हैं। नित्य सेवा करने से साधन जगत् में कोई विरोध होने की संभावना ही नहीं रह जाती। महानिशाकर्म भी सेवाकर्म है। महायोगीगण इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। सेवा के साथ-साथ महानिशा में जपानुष्ठान भी करना चाहिये।

जप कर्म तथा सेवा का अनुष्ठान जीवनपर्यन्त करते रहना चाहिये। यह वरण जीवनपर्यन्त के लिये किया जाता है। यह पूर्ण महाशक्ति की सेवा का कर्म है। खण्ड

महाशक्ति की सेवा से इसकी कोई तुलना ही नहीं है। सप्तदशकलात्मक माँ ही पूर्ण माँ हैं। अतः प्रथम दिवस में १७ कुमारी माँ की अर्चना करना आवश्यक है।

अव साधनांग की विवेचना की जाती है। क्रिया से एक लक्ष्य का उन्मेष तथा स्थिरता का साधन होता है। इस स्थिति में क्रिया करने वाले स्थान में कृत्रिम प्रकाश नहीं करना चाहिये। द्वितीय अंग है जप संख्या। इसे नियमानुसार क्रमशः बढ़ाना होता है। गुरु द्वारा निर्दिष्ट संख्या से न्यून अथवा अधिक जाप नहीं करना चाहिये। जप का उद्देश्य है सिद्धि तथा पूर्णत्व प्राप्ति। आध्यात्मिक विकासार्थ जप कर्म प्रथम उपाय है। यथाविधि गुरुदत्तकाय में (दीक्षा से शुद्ध शरीर में) उत्कर्ष होता है कर्म द्वारा। गुरुदत्त देह का खाद्य है जप। गुरु आदेश का निर्विचार होकर पालन करना होता है। तृतीय अंग है मातृ सेवा। यह तत्व अत्यन्त गूढ़ है। कुमारी ही समस्त शक्ति की मूलरूपा हैं। इनके द्वारा ही काल उत्पन्न होता है। कुमारी माँ निराकारा हैं। हमें इस साकार जगत में जिनका परिचय मिलता है (अर्थात् ब्राह्मण कन्या) वे आदि कुमारी नहीं हैं। वे हैं कुमारी रूपा महामाया की अनुकृति। आदि कुमारी (आदि माँ) को ही माँ कहा गया है। नादरूपी प्रणव ज्योतिस्वरूप अनुभूत होता है। नाद की जो श्रुति है, उसका नाम है शब्द, अर्थात् दुर्गा। श्रुति अक्षररूपा है, वह निरक्षरा नहीं है। यह अक्षर रूपा अखण्ड कुमारी ही दुर्गा हैं। वे शब्दातीत शब्द हैं। इनका स्वरूप मायातीत है। काल प्रसविनी कुमारी को सर्वजगत् का मूल कहा गया है। महामाया प्रभृति काल से जात हैं। अचलानंद (महातपा) की आराध्या आदि माँ ही आदि कुमारी हैं। आदि कुमारी का कोई भी आधार नहीं है। वे निराधार हैं। लौकिक कुमारी (ब्राह्मण कन्या) महामाया की अंशरूपा एक कला कही जाती हैं। आज तक आदि कुमारी ने आत्मप्रकाश नहीं किया है। जब वे आत्मप्रकाश करेंगी, तभी तत्क्षण समस्त जगत् ब्रह्ममय हो सकेगा। इसीलिए अखण्ड महायोग रूपी महाकर्म का आयोजन ज्ञानगंज में किया गया है।

यह नित्य सेवा (कुमारी सेवा) महानिशा में करना श्रेयस्कर है। नित्य सेवा के अतिरिक्त अमावस्या, पूर्णिमा, कृष्णाष्टमी प्रभृति तिथियों में विशिष्ट रूप से कुमारी सेवा करना चाहिये। यह भी एक प्रकार से नित्य सेवा ही है, क्योंकि इन तिथियों का आवर्त्तन प्रत्येक मांह होता है। सेवा से महापथ परिष्कृत, आलोकित हो जाता है। कर्मपथ में ज्ञात अथवा अज्ञातरूप से जो भी त्रुटि रह जाती है, वह इससे संशोधित होती रहती है।

क्रिया के द्वारा लक्ष्यजनित स्थिरता आती है जिससे अग्रगामी गति होती है। सेवा के द्वारा प्रतिबंधक का अपसारण होता है। अखण्ड महायोग (सूर्य विज्ञान) के पथिक के लिये नित्यदान भी आवश्यक है। प्रतिदित कुछ न कुछ गरीब-असहाय को

दान देना चाहिये। एक साथ अधिक दान की अपेक्षा अल्पपरिमाण में नित्य किये गये दान का फल अत्यधिक है।

कर्मालोचना के पूर्व काल तथा क्षण की आलोचना आवश्यक है। कर्म (जप) में काल निर्धारण का महत्व है। निर्दिष्ट काल का लंघन करने से कर्म बाधित हो जाता है। काल के नाना विभाग कहे जाते हैं। काल के साथ-साथ क्षणज्ञान भी आवश्यक है। महानिशा का क्षण अर्थात् महामहाक्षण से ही योगी के दिन की सूचना मिलती है। अर्थात् योगी का दिन सूर्योदय से प्रारंभ नहीं होता। उसका दिन प्रारम्भ होता है महामहाक्षण से। गुरु द्वारा प्रदत्त कर्म क्षणज्ञान द्वारा ही सिद्ध होता है।

आज तक क्षण का महात्म्य अज्ञात सा है। ज्ञानगंज में इस संदर्भ में गम्भीर चिंतन, अन्वेषण किया गया है। ज्ञानगंज के अतिरिक्त इस जगत् में केवल महायोगी विशुद्धानन्द देव ही क्षणधारण में समर्थ हो सके थे। सूर्यास्तकालीन क्षण का अनुसंधान कर लेने पर यथार्थ सन्ध्याकर्म सिद्ध हो जाता है। महानिशाकर्म माँ से संबंधित है और सन्ध्याकालीन कर्म गुरु से सम्बन्धित रहता है। महानिशा में रचना होती है, जिसे संध्याकाल में गुरु को अर्पित कर देते हैं। एक काल ऐसा भी है जिसमें कर्म ग्रहण किया जाता है।

इसके साथ ही काल, अकाल एवं कालाकाल का भी ज्ञान रहना चाहिये। काल-अकाल तथा कालाकाल के मिलित होने पर जिस शक्ति की उत्पत्ति होती है उसका नाम है त्रिकाल शक्ति। इस शक्ति के धारक के लिये भूत-भविष्य का कुछ भी अज्ञात नहीं रह जाता। ज्ञानगंज के सिद्धगण इसी त्रिकाल शक्ति के प्रभाव से सर्वत्र, सर्वरहस्य को आयत्त कर लेते हैं। कालाकाल की अवस्था में आधार गठन होने पर क्षण से युक्तता होती है। इसी से महामहाक्षण का आविर्भाव हो जाता है।

मूलकर्म संख्याबद्ध है। निर्दिष्ट संख्या के अनुसार कर्म करना चाहिये। महानिशा के पश्चात् श्री गुरु से संख्या निर्देश प्राप्त हो जाता है। तदनन्तर कर्मदान होता है। सभी कर्मदान नहीं कर सकते। कर्मी की योग्यता के अनुसार कर्मदान का तारतम्य निर्धारित होता है। यह एक रहस्यमय व्यापार है। श्री गुरु कर्मदान के समय स्वयं प्रकट होकर यह कृत्य सम्पन्न कराते हैं। इस समय गुरु का जो स्वरूप प्रकट होता है, वह अप्राकृत चिदानन्दमय नित्य यौवन सम्पन्न प्रकाशोद्भासित रूप है। प्रकृत गुरु कभी भी वृद्ध नहीं होते। कर्मदान के समय दान योग्य कर्म स्वयं ही गुरु के समक्ष प्रकट हो जाता है। यह प्रकृति भण्डार प्रकृत गुरु के अधीन है। उसमें सभी कर्म संचित रहते हैं। वहां व कर्म अव्यक्त रूप से संचित रहते है।

जो सन्तान जितनी योग्यता का अर्जन करती है, श्री गुरु उसे तदनुरूप कर्मदान करते हैं। धारण योग्यता के अनुरूप कर्मदान सम्पन्न होता है। अपुष्ट आधार

में तेजोमयी वस्तु प्रदान करने से उस आधार की क्षति हो जाती है। यहाँ तक कि वह नष्ट भी हो सकता है। कर्म ही शक्ति है। यह प्रकृति के आभ्यन्तर में प्रच्छन्न रूप से संचित रहता है। आधार की योग्यता के अनुसार उस आधार में संचारित होने लगता है। इसके पश्चात शिष्यरूपी सन्तान कर्षण के द्वारा उसके विकास को सम्पादित करते रहते हैं। कर्षण कर्म से बलाधान होता है। आधार रूपी शिष्य का सामर्थ्य वर्धित होने लगता है। इसी सामर्थ्य के तारतम्य से परमवस्तु की प्राप्ति होती है। यह सब होता है शक्ति के द्वारा। शक्ति संग्रह का श्रेष्ठ उपाय है मातृसेवा।

कुमारीतत्त्व

महाशक्ति तथा कालशक्ति जगत् में क्रियाशील है। कालशक्ति महोग्रशक्ति है। इससे ही परिणामी धर्म का स्त्रोत प्रवाहित होता रहता है। जगत् में सब कुछ परिवर्त्तनशील परिणामी है, यह कालशक्ति जनित क्रिया है। काल ही सब कुछ का साधक एवं पाचक भी है। यह आवर्त्तनशील है। जगत् का सब कुछ काल के अधीन है, अतः आवर्त्तनात्मक अवस्था सर्वत्र परिलक्षित होती रहती है। उपासना का अर्थ हैं काल का अतिक्रमण तथा परिणामीभाव से मुक्ति !

कालजय के लिये शाक्त मतोक्त उपासना का प्रचलन अधिक है। इस संदर्भ में पंचदशी. षोड़शी तथा सप्तदशी महाशक्ति का ज्ञान आवश्यक प्रतीत होता है। काल की आवर्त्तनात्मक गति की दो दिशायें हैं। यथा आकुंचन एवं प्रसारण। प्रथम है सम्मुखीन गति, द्वितीय है पश्चात् गति। अर्थात् एक है निश्वास तथा अपर है प्रश्वास। इसका प्रवाह जीवन पर्यन्त चलता रहता है। चक्षु का उन्मीलन एवं निमीलन। यह भी जीवन पर्यन्त की क्रिया है। वह प्रगति कालजनित प्रगति है। इसका अन्त नहीं है। इसका सोपान परम्परा क्रम से अनुशीलन करने पर (गुरुप्रदत्त कौशल द्वारा) उर्ध्वगति प्राप्त होती है। ज्ञानगंज में इसी श्वास-प्रश्वास के आलम्बन द्वारा कालगत आवर्त्तन में ही स्थितिविन्दु प्राप्त कराया जाता है। इससे इसी जड़ावस्था में चैतन्य प्रकाशित हो उठता है। इस अवस्था में कालातीत अमृतसत्ता में स्थिति होती है। इसे षोड़शी विद्या कहते हैं। यह आत्मा की ही नित्यकला है। जो कालचक्र है, वही है पंचदशी।

षोड़शी की प्राप्ति का अर्थ है कालराज्य से मुक्ति। अब शक्तिराज्य में प्रवेश हो जाता है। शक्तिराज्य में शक्ति के साथ शिव का नित्य सान्निध्य रहता है। इन्हें कामेश्वर-कामेश्वरी कहा गया है। ये महात्रिकोण के मध्यविन्दु में विराजित रहते हैं। इनके चतुर्दिक एक नित्यमण्डल परिक्रमण करता रहता है। यही है नित्या देवी स्व-

रूपिणी कालशक्ति रूपिणी पंचदशी। पंचदशी केवल नित्या हैं, परन्तु षोड़शी नित्या होने पर भी साक्षात् जगदम्बा भी हैं। पंचदशी आवर्त्तनशीला हैं। इनमें कला का विकास होते-होते पूर्ण कला पूर्णिमा का विकास होता है। यही है शुक्लपक्ष। तदनन्तर १-१ कला का ह्रास होते-होते अमावस्या की स्थिति आती है। अतः पंचदशी मे कला की ह्रास वृद्धि वर्त्तमान रहती है। वह विन्दुरूपा है।

इस चक्र का मध्यविन्दु है षोडशी। इसी मध्यविन्दु का आश्रय लेकर पंचदशी कार्यरत है। यहाँ जिस बिन्दु की पंचदशीरूप में चर्चा की गयी है, उसकी वाम एवं

कालचक्र
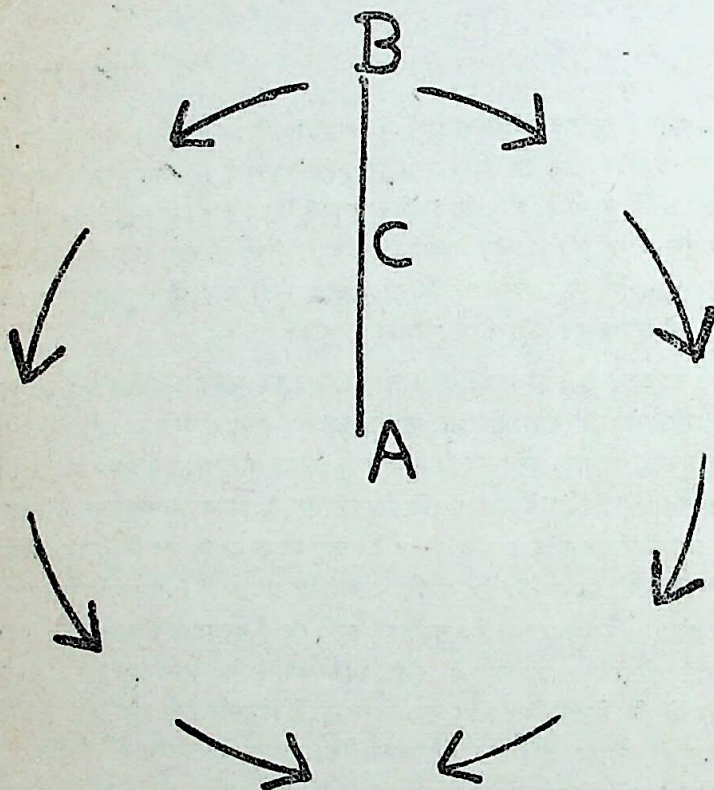
A = स्थिर विन्दु (कूटस्थ)
B = कालविन्दु (घूर्णनशील)
C = रज्जु

दक्षिणरूपी उभय गति है। यह आवर्त्तन अनादि तथा अनन्त है। यह आवर्त्तन जिस मध्यविन्दु के चतुर्दिक होता है; वह आवर्त्तनशील विन्दु नहीं है; वह स्थिर स्थिति

है। ज्ञानगंज के साधक वाम एवं दक्षिण आवर्त्तन को सम्पूर्ण करते हैं। इस कर्म को सम्पन्न करते ही मध्यविन्दु आत्मप्रकाश करता है। यह मध्यविन्दु ही कालचक्र की नाभि है। यही षोडशी हैं। अमृतस्वरूपा हैं। उक्ति है कि नाभि में अमृत रहता है। काल अग्नि है। अमृत सोम है।

आवर्त्तन का अर्थ है दो विन्दुओं के साथ की एक संयोजन रेखा। एक रज्जु। इस रज्जु के एक ओर आवर्त्तनशील विन्दु (पंचदशी) आवर्त्तन करता रहता है। दूसरी ओर है स्थिर बिन्दु अर्थात् कूटस्थ। तीसरा है, इन दोनों विन्दु की संयोजन रज्जु। इन तीन को मिलाकर कालचक्र बन जाता है। घूमने वाला बिन्दु है कालविन्दु। जीवमात्र इसी का आश्रय लेता है। अत: वह भी घूमता रहता है। स्थिर बिन्दु है कूटस्थ। यह वृत्त का मध्य विन्दु है।

दिन-रात्रि, अहोरात्रचक्र, मासचक्र इसी प्रकार घूर्णन करता रहता है। यही काल की क्रीड़ा है। मध्यविन्दु कालातीत है। समग्र विश्व के ही समान मानव देह मे भी ये दोनों विन्दु कार्यरत रहते हैं। एक विन्दु आवर्त्तन युक्त है। दूसरा विन्दु आवर्त्तन शून्य है। आवर्त्तन युक्त विन्दु को देह कहा गया है। स्थिर विन्दु ही आत्मा है। चल विन्दु प्रकृति है। स्थिर विन्दु पुरुष है। अत: काल में पूर्णता भी है। पूर्णिमा को पूर्ण कला कहते हैं, तथापि वह पूर्ण नहीं है, क्योंकि इसी के अनन्तर कृष्णपक्ष होता है। अत: कालराज्य की पूर्णता भी सापेक्ष है, शून्यता भी सापेक्ष है, क्योंकि अमावस्या रूपी शून्यता के अनन्तर पुन: शुक्लपक्ष हो जाता है।

षोडशी कला काल द्वारा बाधित नहीं होती। जिस देह मे षोडशी कला का उपादान स्थित है, वह देह अमृत स्वरूप है। जो मृत्युंजय हैं, उनकी देह में षोडशीकला का पूर्ण प्रकाशन हो जाता है। पंचदशी का शोषण काल कर लेता है, परन्तु षोडशी काल का शोषण करती है। अग्नि की तुलना में सोमकला वर्धित होने लगती है। षोडशी निष्क्रियरूपा है। वह साक्षी मात्र है। वह द्रष्टा है। यहां निष्क्रियता के कारण यथार्थ पूर्णत्व का प्रस्फुटन नहीं है। यथार्थ पूर्णत्व प्रकाशित होता है सप्तदशी में। सप्तदशी मे जहाँ एक ओर क्रिया विद्यमान है, वहीं दूसरी ओर अनन्त निष्क्रियता भी अखण्ड रूपेण प्रकाशित है। यहां सक्रिय तथा निष्क्रिय का भेद ही नहीं है। इस पूर्ण से निरन्तर अनन्त विश्व रूपी क्षरण हो रहा है, तथापि वह पूर्ण ही है। यही अखण्ड कुमारी तत्व है। इन्ही कुमारी से विश्व जगत् प्रवर्त्तित हो रहा है, तथापि उनका कुमारित्व यथावत् है।

अनन्त पथ के यात्री के लिये मध्याकर्षण से मुक्त होना आवश्यक है। यही अग्रगति का प्रतिबंधक तत्व है। स्थूलमार्ग पर चलते समय स्थूल प्रतिबन्धक अवरोध रूप उपस्थित होते हैं। स्थूलपथ का अतिक्रमण करने के पश्चात् सूक्ष्मपथ पर पग

संचार करते ही सूक्ष्म प्रतिवंधक उपस्थित होने लगते हैं। ये सभी विघ्न एवं विक्षेप की सृष्टि करते हैं। इस स्थिति में ऐसे अकाट्य प्रतिवंधक प्रकट होते है, जिनके छद्म वेश के कारण उन्हे प्रतिवंधक रूप से पहचान सकना भी सम्भव नहीं होता। अत: कर्म की गति तीव्र रहने पर भी पथ निष्कन्टक नहीं रह जाता। पग-पग पर स्खलन की दृढ़तर सम्भावना हो जाती है। ज्ञानगंज के द्वारा प्रदर्शित उपाय का अवलम्वन लेकर इनसे त्राण प्राप्त होता है। यह उपाय है माँतृसेवा। माँ जगदम्वा सृष्टि के मूल में शक्तिरूपिणी होकर विराजित रहती है। उनको सेवा द्वारा प्रसन्न करना चाहिये। उनके प्रसाद के प्रभाव से ज्ञात एवं अज्ञात, समस्त विध्न दूरीभूत हो जाते हैं, इसलिये कर्मशक्ति की सहायता आवश्यक है। साधक गुरुदीक्षा द्वारा गुरु-दत्त काया प्राप्त करता है। यह काया शक्ति स्वरूपा है। यही गुरुशक्ति है। जो शक्ति निरन्तर कर्मनिरत रहकर स्तरानुरूप आधार रचना करती रहती है, जिसकी क्रिया से योगी कर्म सम्पन्न होता है, उसे पुष्ट करना उसका मुख्य कर्त्तव्य होना चाहिये। गुरुदत्त शक्ति ही मातृरूपा है। माँ मूलत: कुमारी हैं। इसी कारण देहधारिणी ब्राह्मण कन्या का पूजन महत्वपूर्ण अनुष्ठान माना जाता है। वाह्यमूर्ति की उपासना से जीवन्त शक्ति नहीं मिलती। जो प्रस्तर प्रतिमा योगी की शक्ति से प्राणप्रतिष्ठित, संजीवित है, उससे योगी शक्तिमान नहीं हो सकता। बाह्यमूर्ति को योगीगण प्राणप्रतिष्ठा के समय अपनी ही शक्ति से संजीवित करते हैं। अत: जीवित देहधारी कुमारी माँ की सेवा का विधान किया गया है। साकार मातृरूपा कुमारी साँ की सेवा से देह पुष्ट होता है। स्थूलदेह की पुष्टि सेवा से होती है। इसमें तृप्ति तथा रस संचार होता है। इस तृप्ति रूप प्रसाद को प्राप्त करके योगी माँ के साथ अच्छेद्य वंधन में बंध जाता है। अव माँ स्वयं (गुरुशक्ति रूप से) शिष्य का कार्यसम्पादन करती हैं। अत: सेवा कार्य अत्यन्त आवश्यक है। अमरलोक भी इस सेवा से वंचित है। वहाँ पर स्थूलदेह धारिणी कुमारी माँ का सर्वथाभाव रहता है। इसी कारण अमरलोक समूह में साधन करने से अत्यन्त दीर्घकाल में किंचित् अग्रगति प्राप्त होती है। वहां मातृसेवा का अवसर ही नहीं मिलता।

दीक्षा

ज्ञानगंज की धारा के अनुसार दीक्षा द्वारा ही पशुत्व समाप्त होता है। इसके अभाव मे पशुत्व, पाप तथा अशुद्धि का नाश नहीं हो सकता। अदीक्षित की देह अशुद्ध है। अशुद्ध देह से देवार्चन नहीं हो सकता। एकमात्र अखण्ड परमतत्व ही जगत् के आदि गुरु हैं। उनसे ही अनन्त प्रकार के ज्ञानस्रोत का उद्रेक होता रहता है। प्रत्येक धारा में उनकी ही विशिष्ट शक्ति प्रवाहित होती रहती है। गुरु की शक्ति

शिष्य में संचारित होती है। जब वह शिष्य गुरुपद प्राप्त करता है, तब अपने अनुगत शिष्य में इस शक्ति का आधान करता है। इस प्रकार आदिगुरु से वर्तमान काल पर्यन्त गुरुशक्ति की धारा का अक्षुण्ण प्रवाह चलता रहता है। इस गुरु-शिष्य परम्परा को सम्प्रदाय कहते हैं। दीक्षा द्वारा शिष्य सम्प्रदाय से युक्त होता है। इससे परमेश्वर की विशिष्ट शक्ति से संयोजन होने के साथ-साथ उनके साथ योगयुक्त अवस्था भी आती है। प्रकृत दीक्षा एक ही समय दी जाती है, तथापि क्रम विकास के साथ-साथ अनेक बार पुनः दीक्षा प्रदान किया जाता है। इसे क्रमदीक्षा कहते हैं। क्रमदीक्षा में दीक्षा का मुख्य लक्षण अंतिम दीक्षा के समय अभिव्यक्त होता है। ज्ञानशक्ति एक ही सयय स्फुरित होती है। ज्ञान की पूर्णता के लिये परमेश्वर की कृपा दृष्टि का होना आवश्यक है। यही पूर्णाभिषेक है। अब जीव पाशमुक्त होकर शिवतत्व प्राप्त करता है।

ज्ञानगंज में दीक्षा के ४ भेद हैं। प्रथम है मंत्र विचार द्वारा दीक्षा। इसमें साधक के तीन प्राक्तन जन्मों का विचार करके तदनुरूप मंत्रदान किया जाता है। द्वितीय दीआ में योग कर्त्तव्य की दीक्षा दी जाती है। जो मंत्र दीक्षा प्राप्त करते हैं, वे मंत्रयोग से ही पूर्णत्व प्राप्त कर लेते हैं। जो कर्म कुशल हैं, उन्हें योगदीक्षा दी जाती है। यद्यपि प्रारम्भ मे हठयोग सम्बन्धित कतिपय प्रक्रियाओं का अनुशीलन करना आवश्यक है, तथापि देहशुद्धि के अनन्तर अखण्ड महायोगोक्त राजयोग का अनुष्ठान किया जाता है। तृतीय दीक्षा है बीजोद्धार दीक्षा। यह अत्यन्त युक्त साधकों के लिये विहित है। इससे उसके संस्कार तल में निहित कुशलमूल का विचार करके उसी का उद्धार करने हैं। गुरु अपनी शक्ति से उस कुशलमूल को जागृत कर देते हैं। चतुर्थ दीक्षा है साक्षात्कारात्मक दीक्षा। यह अत्यन्त तीव्र शक्तिपात युक्त दीक्षा है। जो साधक प्राक्तन जन्मों में, अथवा दीक्षा से पूर्व स्वप्रयत्न से अथवा अव्यक्त की कृपा से पाश मुक्त हो रहे हैं, यह उनके लिये प्रयोज्य है। साधारण साधक इस दीक्षा के तेज को सहन भी नहीं कर सकते।

ज्ञानगंज का विवरण

इस ग्रन्थ में ज्ञानगंज के सम्वन्ध में किंचित प्रकाश प्रक्षेपण किया गया है। समय-समय पर महामहोपाध्याय डा० पं. गोपीनाथ कविराज महोदय से आलोचना प्रसंग में जो कुछ अभिज्ञता प्राप्त हो सकी थी, उसका विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत होता है। कविराज महराज के परमभक्त दादा सीताराम पाण्डेय "तार-वाले" का भी विचार इस सम्वन्ध में ज्ञात हुआ था। दादाजी ने कविराज जी की

कृपा से ज्ञानगंज से भी सम्वन्ध स्थापित किया था। इसी प्रकार मेरे मित्र तथा कविराज के छात्र चन्द्रशेखर स्वामी भी अपने साधन वल से ज्ञानगंज के कतिपय आत्मसमूह से सम्पर्क स्थापित कर सके थे। श्रद्धेय डा० ब्रह्मगोपाल भादुड़ी जी (महान् विद्वान तथा तांत्रिक) का भी अविच्छिन्न सम्पर्क सूत्र इस प्रकार के अलौकिक आश्रमों से रहता आया है। अत: सवका सारतत्व इस प्रसंग में अंकित किया जा रहा है। इससे ज्ञानगंज के सम्वन्ध में अनेक अज्ञात तथ्य स्पष्ट हो सकेंगे।

हिमालय के प्रान्तर में स्थित इस पुण्यभूमि की अलौकिक महिमा है। यद्यपि इसका भौगोलिक परिचय संक्षिप्त है, तथापि इसका तथार्थ तत्व अत्यन्त निगूढ़ एवं गहन सा है। कविरत्न अक्षयकुमार दत्त गुप्त (राय साहेव) तथा कविराज जी ने स्वयं स्वलिखित ग्रन्थों में इसके गहन रहस्य का किंचित उद्घाटन किया है। ज्ञानगंज अत्यन्त निभृत प्रदेश में स्थित एक साधनाश्रम मात्र नही है। देवतात्मा हिमालय में आज भी अनेक शक्ति सम्पन्न महापुरुष गुप्त रूप से यातायात करते रहते हैं। यह सन्यासी तथा योगीवर्ग की तप: प्रभान्वित साधन भूमि है। इसका आश्रय लेकर महापुरुषगण विश्व का रूपान्तर करने की चेष्टा कर रहे हैं। सामान्यत: जीववर्ग बाह्यवायु का आश्रय लेकर श्वास-प्रवास क्रिया द्वारा जीवन अतिवाहित करता रहता है। यह वाह्यवायु है। इसका आश्रय लेते रहने से उर्ध्वगति नहीं हो सकती। अत: योगीगण साधक समूह के लिये जिस साधन पथ का प्रदर्शन करते हैं, उसमें यह कौशल अन्तर्निहित रहता है, जिसके आश्रय से साधक इस कालवायु की क्षिप्रता, गति तथा आश्रय से क्रमश: मुक्त होता जाता है। अव वह अन्तर्वायु का आश्रय लेता है। अन्तर्वायु मे केवल मात्र श्वास है। प्रश्वास नहीं है। जिस स्थिति में मात्र श्वास है, वह दैवी अवस्था कही जाती है। देवगण मे मात्र श्वास अवस्थित रहता है। प्रश्वास नहीं रहता। जब देवगण अपने शुभ कर्मयोग को समाप्त कर लेते है, तब उनमें प्रश्वास का क्षणिक आविर्भाव हो जाता है। यह क्षणिक आविर्भाव ही उनके पतन का कारण होता है। वे पुन: जन्म ग्रहण करने को वाध्य हो जाते हैं। प्रश्वास का तात्पर्य है कालचक्र। जो मानव जीवन में (शुभ कर्म द्वारा) मृत्यु के पश्चात् (मृत्यु के अनन्तर) देवपद प्राप्त करते हैं, उनके लिये यह नियम है। जो अजान देवता हैं, अर्थात् सृष्टि के आविर्भाव के समय से ही देवपद पर आरूढ़ हैं, उनमें ऐसा नहीं होता। उनका कर्मजनित पतन सम्भव नहीं है।

ज्ञान, भक्ति, कर्म, सांख्य, अजपा, यज्ञादि कर्म, वैदिक साधना, तंत्र साधना आदि समस्त प्रस्थानों में तत्सम्वन्धित साधक की (साधना द्वारा) ज्ञात रूपेण अथवा अज्ञात रूपेण प्रश्वास क्रिया निरुद्ध होती जाती रही है। उसे साधना की चरम स्थिति में वाह्यवायु की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। बाह्यवायु से सम्वन्ध विच्छिन्न होते ही काल का आवर्त्त समाप्त हो जाता है, और सिद्धदेह की प्राप्ति हो जाती

है। बाह्यवायु से सम्बन्ध विच्छिन्न हो सकना अत्यन्त निगूढ़ तथा एकायन साधन द्वारा ही संभव है। यह सबके लिये संभव भी नहीं है। परन्तु सृष्टि में कुछ देश तथा काल की व्यवस्था महाप्रकृति ने की है, जहां पर यह अवस्था अल्प आयास से ही प्राप्त हो जाती है। हिमालय के उच्चस्तरीय क्षेत्र में ऐसा अवसर सुलभ रहता है। अतः राशि-राशि परमहंस, साधक, सन्यासी तथा सिद्धगण वहाँ पर यातायात करते रहते हैं। अनेक वहीं पर स्थायीरूप से निवास भी करते हैं। अतः ज्ञानगंज भी हिमालय के ही प्रान्तर में स्थापित है। यह केवलमात्र योगाश्रम नहीं है, प्रत्युत यहाँ बहुसंख्यक योगी, सन्यासी, अवधूत, भैरवी, कुमारी, ब्रह्मचारी प्रभृति निवास करके अपना-अपना कर्म करते रहते हैं। एक प्रशस्त उपत्यका की मध्यवर्ती विस्तृत समतल भूमि में सात-आठ मील के क्षेत्र में यह आश्रम स्थित है। उस समतल भूमि के बीच-बीच में उठी पर्वतमालाओं के स्तर-स्तर में स्तरानुरूप शिक्षायतन शोभान्वित हैं। वहां बहुसंख्यक शिक्षार्थी शिक्षा प्राप्त करते रहते हैं। यह समतल विस्तीर्ण स्थल उच्च प्राचीर द्वारा आवेष्ठित है। इस प्राचीर के चारो ओर स्वच्छ जल से परिपूर्ण एक झील है। इस झील के एक ओर एक धनुषाकृति का सुन्दर सेतु निर्मित है। इसी सेतु के द्वारा योगाश्रम के अन्तेवासी बाह्य जगत में जाते हैं। इस पुल का जो छोर ज्ञानगंज में है उसके ऊपर एक अभिनव यंत्र स्थापित किया गया है। इस यंत्र के स्थान विशेष को दबाते ही सम्पूर्ण पुल उपर उठ जाता है और बाह्य जगत से ज्ञानगंज का सम्पर्क सूत्र समाप्त हो जाता है। यह यंत्र सूर्य विज्ञान द्वारा संचालित होता है। ज्ञानगंज तत्कालीन वृटिश राज्य की सीमा तथा तिब्बत की सीमा पर अवस्थित है। तथापि यह स्थल किसी राष्ट्रविशेष की सीमा में एक प्रकार से नही है। इसे No Mans Land कहा जा सकता है।

ज्ञानगंज जाने का पथ अत्यन्त दुर्गम सा है। अनेक हिंस्त्र वनजन्तु से परिवृत्त स्थान तथा वनों से होकर भयंकर गिरि संकट तथा बाधाओं को पार करते हुये, अतलस्पर्शी गिरिगह्वर (खाइयों) के किनारे किनारे जा रही अत्यन्त संकीर्ण वनवीथिका (पगदँडी) से महीनों चलने पर यहाँ पहुँचा जाता है। जलन्धर से गोगा तक तो यान वाहन सुविधा मिल जाती है, परन्तु गोगा के आगे पदव्रजन के अतिरिक्त कोई भी उपाय नहीं है। गोगा से ज्ञानगंज पहुँचने में २ महीने लग जाते हैं। स्थान-स्थान पर मार्ग तुषाराछन्न सा है। चलने में पैर उस तुषारपुंज में धंस जाता है। रास्ते के किनारे कुछ-कुछ अन्तराल पर चट्टी (ठहरने का सामान्य स्थल) है, जहाँ दधि तथा चूड़ा भोजनार्थ मिलता है।

विज्ञजन कहते हैं कि ज्ञानगंज जाने में किसी को बाधित नहीं किया जाता। वहाँ रात्रि निवास का कठोर नियम है। केवल मात्र विशेष साधुगण ही (पथिक रूप से) रात्रि विश्राम कर सकते हैं। अन्य बाह्य व्यक्ति को रात्रि निवास की अनु-

मति नहीं मिलती। जिन्हें वहाँ से सम्बन्धित सिद्धजन पत्र देकर भेजते हैं, उसे ठहरने से नहीं रोका जाता। इस मार्ग पर अकेले जाना अत्यन्त संकटपूर्ण है। जाने की इच्छा होने पर भी ऐसे संगी नहीं मिलते, जो इस दुर्गम पथ का अतिक्रमण करें। अनेक दैवी तथा आधिदैवी घटनाक्रम यात्रीगण को मध्य मार्ग मे ही विव्रत कर देता है और वे लौट आते हैं, तथापि जिनको आश्रमवासियों की अनुमति अथवा सहमति प्राप्त है, वे अकेले ही इस दुर्गम पथ को अतिक्रान्त कर लेते हैं। कतिपय लोगों को वहाँ के सिद्धजन अपने साथ आकाश मार्ग से भी ले जाते हैं। श्री श्री विशुद्धानन्द परमहंसदेव के अनेक शिष्य पथ का वर्णन सुनकर ही जाने का साहस खो बैठे थे। परमहंस देव कहा करते थे कि वह एक मायापुरी है ! वहाँ की पार्थिव समृद्धि भी अनुपम है। वहाँ अत्यन्त दुर्लभ मणि तथा रत्न समूह का विशाल भण्डार सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त भवन शिल्प, मूर्तिशिल्प भी अनुपम है। वहाँ अनेक वस्तु तथा यंत्रादि संकलित हैं जिनका उपयोग महाभारत काल तथा उससे पूर्वकाल मे हुआ था। वहाँ की शिक्षापद्धति भी अनुपम है। वहां सभी प्रत्यक्षवादी हैं। जो शिक्षा दी जाती है, वह मात्र ग्रंथों पर ही आधृत नहीं है। उसे प्रत्यक्षतःदर्शित भी किया जाता है। इससे विषय वस्तु स्पष्टरूप से तथा निभ्रान्त भाव से आयत्त हो जाती है। उसमे संदेह नहीं रह जाता। एक समय ज्ञानगंज में श्यामानन्द परमहंसदेव परमार्थ प्रशिक्षण दे रहे थे। महामाया का प्रसंग आने पर उन्होंने सूर्यरश्मि का केन्द्रीयकरण करके महामाया का प्रदर्शन भी किया था। वहां प्रत्येक रात्रि में पूर्ण चन्द्रोदय कराकर समस्त प्रदेश को ज्योत्स्ना प्लावित किया जाता है। यह अत्यन्त विस्मयकारी विज्ञान है।

महायोगीगण ने अपनी योगसिद्धि से यह चमत्कार पहले भी प्रदर्शित किया है। त्रिपुरा जिलान्तर्गत् निवासी सर्वानन्द ठाकुर ने तंत्रसिद्धि से अमावस्या की रात्रि मे पूर्ण चन्द्रोदय का साक्षात्कार कराया था। निम्वार्कमुनि ने नीमवृक्ष की शाखा के नीचे सूर्यतुल्य सुदर्शन के द्वारा रात्रि को दिवालोकित कर अतिथिगण को भोजन कराया। यह सब अलौकिक प्रत्यक्ष सिद्धि जनित है, परन्तु ज्ञानगंज का चंद्रोदय विज्ञान जनित है। सिद्धि जनित अलौकिक प्रत्यक्ष कराने में, तत्सम्बन्धित सिद्ध की शक्ति का क्षय, उपचय होता है। एतद्विपरीत विज्ञान प्रक्रिया के द्वारा जो अलौकिक प्रत्यक्ष होता है, उसमें सिद्ध अथवा परमहंस योगी की अपनी कोई भी क्षति नहीं होती। वे ज्ञानगंज में रात्रि काल में भी इसी विज्ञान जनित चंद्रोदय की सहायता लेकर सूर्यविज्ञान, चन्द्र विज्ञान आदि विज्ञान समूह का तथ्य उद्घाटन करने तथा गवेषणा करने में निरत रहते हैं।

ज्ञानगंज में बहुसंख्यक दण्डी, ब्रह्मचारी, कुमारी, ब्रह्मचारीगण कठोर साधना में निरत हैं। जब योगाश्रम के लोग कुमारी सेवा का आयोजन करते हैं, तब शत-

शत ब्राह्मण कुमारी किसी अदृश्य रहस्यलोक से, युगपत् एक साथ उपस्थित होकर सेवा ग्रहण करने लगती हैं। वहाँ पर इसी प्रकार की आश्चर्यमय घटनायें होती रहती हैं, जो लौकिक दृष्टि से असंभाव्य हैं। ज्ञानगंज के इस स्थूल रूप की पृष्ठ-भूमि में ज्ञानगंज का अलौकिक सूक्ष्म स्तर भी विद्यमान है। यह अति प्राकृत ज्ञान-गंज है। यह सत्ता रहस्य से आवृत है। ब्रह्मलोक से लेकर अध:स्तन चतुर्दशभुवन की संरचना तत्वों से ही होती है। तत्व ही इन भुवनों के उपादान हैं। यद्यपि उपादानगत मूल में ऐक्य है, तथापि स्थूल-सूक्ष्म भेद से भिन्न-भिन्न लोकों की आकृति तथा प्रकृति परस्पर पृथक सी हैं। समस्त लोक लोकान्तर जीव के कर्मसूत्र से ग्रथित होते हैं। तदनुसार लोकलोकान्तर में जीव की गति हो जाती है। ज्ञानगंज के सम्वन्ध में यह तथ्य नहीं कहा जा सकता। यह चतुर्थ भुवनान्तर्गत् मायिक उपादान रचित स्थान नहीं है। यह नित्य ज्योतिर्मय है। यहाँ दिन रात्रिगत भेद नहीं है। यहाँ आकाश तथा मृतिका नहीं है। समस्त भूमि स्पष्टत: स्फटिकमय है, तथापि उसी में लता-वृक्ष, पुष्पोद्यान, भौरों का गुन्जन, सर्व ऋतु के पुष्पफल, सब कुछ है। विशुद्ध सत्ता के सन्तानगण गुरुदत्त काय के प्रभाव से काल का भेदन करके स्वकर्म को पूर्ण करते रहते हैं। अतिप्राकृत स्थिति वाले स्तर में भी ब्रह्मचारी, दण्डी, सन्यासी, तीर्थस्वामी आदि के पृथक्-पृथक् स्थान परिलक्षित होते हैं।

इस अतिप्राकृत स्तर का ही एक उच्चस्तर है नित्यधाम। यहाँ का नेतृत्वभार उमां मां पर न्यस्त है। उमां मां एक ज्योतिर्मयी नारी मूर्ति हैं। साक्षात् भगवती तुल्य। इनका उज्वल शरीर प्रकाश से उद्‌भासित होता रहता है। मस्तक पर चूड़ाकार जटाजूट, ललाट पर रक्त चन्दन का तिलक, कंठ में रुद्राक्ष की माला, हाथों में रजत् शुभ्र दीर्घ त्रिशूल। इनका वस्त्र रक्तवर्ण है। वाणी अत्यन्त मधुर है। करुणा से नेत्र सदा आर्द्र रहते हैं। यह सिद्ध भैरवी माताओं में अन्यतम हैं। जहाँ उमा भैरवी मां ने तपस्या किया था, वह शिलाखण्ड इनके तप: तेज से दग्ध हो गया था। इस दग्ध शिलाखण्ड की भस्म को विशुद्धानन्द परमहंसदेव अपने पास संरक्षित रखते थे। रात्रिकाल में महानिशाकाल में इस भस्म का अपने मस्तक पर तिलक करते थे। इस भस्म में शीतलता तथा सुगन्धि है। इसके लेपन से क्रियाकाल में चक्षुद्वय सूर्योदय पर्यन्त शीतल .बने रहते हैं। इस भस्म से ही उमां मां का असीम शक्तिशाली स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इस नित्यधाम में कुमारीरूपा मातृसेवा का ही महात्म्य सर्वोत्तम माना गया है। नित्यधाम के अतिरिक्त अन्य स्तर का नाम है गुरु-राज्य। इसका आयतन अत्यन्त बृहद् है। इसमें से होकर नीलवर्णा कर्मनदी, रक्तवर्णा माया-नदी तथा शुक्लवर्णा अमृतनदी प्रवाहित होती रहती है। इस विवरण को सुनने से कौषीतकी उपनिषदोक्त ब्रह्मलोक प्रवेशपथ का विवरण स्पष्ट हो जाता है। उपनिषद के अनुसार ब्रह्मलोक के प्रवेशपथ पर विशाल नीलवर्ण ह्रद, वार्धक्य विनाशिनी

विरजानदी तथा अनुपम गंधयुक्त इलावृक्ष उपस्थित है। जो साधक परीक्षा में उत्तीर्ण होते जाते हैं, उन्हें क्रमानुरूप उच्चस्तर में प्रवेश प्राप्त होता रहता है।

यह एक ही अभिन्न रूप ज्ञानगंज का साधना भेद से विभिन्न स्तर है। एक विम्ब है, अन्य सभी प्रतिविम्ब हैं। जैसे प्रकृत चन्द्रलोक सूक्ष्म तथा मायातीत है, परन्तु स्थूल चन्द्रमा इंद्रियग्राह्य तथा मायाधीन है, यहाँ भी वैसा विदित होता है। पार्वत्य ज्ञानगंज के अधिनायक हैं श्रीमत् ज्ञानानन्द। पहले इस स्थान का नाम इन्द्रप्रस्थ था। परवर्तीकाल में इसका नामकरण ज्ञानगंज किया गया। यहाँ योग्यताक्रम से योग-विज्ञान, चिकित्सा, ज्योतिष, स्वरोदय, रसायन, संगीत प्रभृति का भी शिक्षण कार्य होता रहता है। सभी विज्ञान विभागों के अध्यक्ष हैं श्रीमत् श्यामानन्द परमहंसदेव। योग शिक्षण में स्वामी भृगुरामदेव अन्यतम माने जाते हैं।

वहुसंख्यक कुमार एवं कुमारी ज्ञानगंज में साधना तथा शिक्षा प्राप्त करते रहते हैं। ज्ञानगंज में कुमारी कन्याओं की संख्या विशुद्धानन्द परमहंसदेव के काल में ४००० थी। ब्रह्मचारियों की संख्या ५००० से अधिक थी। सभी को दीक्षा के पश्चात् १२ वर्ष पर्यन्त योग तथा ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता है। इसी समय वे आनुषंगिक रूपेण अन्य विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करते रहते हैं। द्वादश वर्ष के उपरान्त उनकी परीक्षा ली जाती है। प्राचीन आचार्यगण यह परीक्षा लेते हैं। ब्रह्मचारियों की विशेष परीक्षा भैरवी मातायें लेती हैं। इनकी आयु २००-३०० वर्ष से कम नहीं है, किन्तु ये भैरवी मातायें बाह्यदृष्टि से अपरूप सौन्दर्य तथा लावण्ययुक्त हैं। वे विवसना (वस्त्ररहित) होकर परीक्षार्थियों के सम्मुख उपस्थित होती हैं। केवलमात्र उनका योनिप्रदेश आवरित रहता है। इन्हें देखकर जिस ब्रह्मचारी के मन में तनिक भी चाञ्चल्य का संचार होता है, उसे अर्न्तदृष्टियुक्त भैरवी मातायें जान लेती हैं और उसके ललाट पर उत्तप्त लौह शलाका से एक चिह्न अंकित कर देती हैं। वह छात्र पुनः १२ वर्ष ब्रह्मचर्य पूर्वक अतिवाहित करता है।

यहाँ भैरवी माताओं की स्थिति तथा अधिकार सम्पदा एवं योगशक्ति परमहंस महापुरुषों के ही समान है। ज्ञानगंज के अतिरिक्त इतनी संख्या में परमहंस सिद्ध तथा भैरवीमाताओं को एक साथ रहते नहीं देखा गया। ज्ञानगंज में विमलामती ब्रह्मचारिणी भी निवास करती हैं। लोकालय (संसार) में भी कभी-कभी यह लोग पदार्पण करते रहते हैं। भृगुरामदेव का वर्ण बालसूर्य के समान है। स्वामी अभयानन्ददेव सौम्य मूर्ति, परिपुष्टदेह, जटाजूटमंडित सौम्य मूर्ति रूप हैं। कौपीन ही इनका पूर्ण वस्त्र है। दृश्यमान जगत् से पूर्णतः उदासीन, साक्षात् महेश्वर! नीमानद स्वामी भी इनके समान स्थूलकाय हैं। बाबा विशुद्धानन्द कहा करते थे कि भृगुरामदेव तथा महातपादेव (अचलानन्द) का शरीर भारतीय ही है।

महातपादेव (अचलानन्द) का योगासन उत्तर तिब्बत राजराजेश्वरी मठ में है। वहाँ लोग नहीं पहुँच सकते। वहाँ केवलमात्र एक प्रच्छन्न विशाल गुफा है। उसी के एक पार्श्व में (गुफा में) राजराजेश्वरी देवी की मूर्ति स्थापित है। इसी गुफा को ही राजराजेश्वरी मठ कहते हैं। इनकी आयु १३०० वर्ष से अधिक है। ये अधिक यातायात नहीं करते। कभी-कभी मनोहरतीर्थ जाकर अपनी गुरुमाता का दर्शन करते हैं। इनकी आयु महातपादेव से अधिक है, तथापि देखने में यौवन सम्पन्ना प्रतीत होती हैं। महातपादेव अधिकांश समय मौन ही रहते हैं। जागतिक स्थिति से पूर्णतः उदासीन रहते हैं। सदा समाधियोग में मग्न रहना ही इन्हें अभिप्रेत है। ये वायु का ही पान करते हैं। कभी-कभी एक चुटकी भस्म का आहार कर लेते हैं। श्रीमत् भृगुराम परमहंसदेव अत्यधिक यत्न तथा भक्ति से इनकी जराजीर्ण देह की सुरक्षा करते है।

महातपादेव के अतिरिक्त महायोगीगण को भी आहार का प्रयोजन नहीं रहता। विशुद्धानन्द देव भी अतिसामान्य आहार करते थे। वे केवल प्रसाद ग्रहण करते। ज्ञानगंज में प्रसाद की महिमा का वर्णन प्राप्त होता है। महायोगीगण जल भी नहीं पीते। उन्हें मलमूत्र निष्क्रमण की आवश्यकता ही नहीं रहती। गुरुदत्त क्रिया का यह प्रभाव परिलक्षित होता है ज्ञानगंज में। परमहंसदेव के शिष्य जगत् सेन की पत्नी को गुरुकृपा से अत्यन्त उच्च अवस्था की प्राप्ति हो सकी थी। वर्षों तक उन्होंने एक बिन्दु जल तक का पान नहीं किया, अन्न का आहार भी नहीं किया, तथापि स्वस्थ प्रसन्न रहती थीं। यह ज्ञानगंज की धारा से हो सका था।

विख्यात लेखक पालब्रन्टन को मद्रास के अवधूत ब्रह्मसुखानन्द ने महासिद्ध ऐरम्बु स्वामी का वृत्तान्त सुनाया था। यह जब सुखानन्द से मिलते थे तब इनकी आयु ५०० वर्ष थी। इनके सम्मुख ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने मद्रास में सबसे पहले पदार्पण किया था। प्रथम पानीपत की लड़ाई का दृश्य इन्होंने देखा था। प्लासी युद्ध की अनेक घटनाएँ इनके सामने हुई थी। वे कहा करते थे कि हिमालय के तुषाराच्छन्न प्रदेश में अनेक योगी तथा योगाश्रम आज भी हैं। इन योगीगण की अवस्था हजारों वर्ष है। विशुद्धानन्द परमहंसदेव इनके गुरुभ्राता थे। जब ब्रह्मसुखानन्द ने ऐरम्बुस्वामी से विशुद्धानन्द की चर्चा की तब स्वामी जी हँसते हुये बोल उठे "विशुद्धानन्द ! वह तो मात्र ८० वर्ष का बालक है !" तमिलभाषा में ऐरम्बु का अर्थ होता है पिपीलिका (चीटी.) ! स्वामी जी झोली में सर्वदा कुछ आंटा रखते थे। कहीं भी पिपीलिका (Ant) को देखते ही कुछ आँटा भोजनार्थ छिड़क देते। इसी से वहाँ के लोग उन्हें ऐरम्बुस्वामी कहने लगे।

विशुद्धानन्द देव भी हिमालय प्रवास काल में ऐसे महापुरुषों का अन्यत्र भी दर्शन प्राप्त करने में समर्थ हो सके थे। उन्होंने मानस सरोवर के पास एक निर्जन

स्थल में दो अजपा सिद्ध योगियों का दर्शन प्राप्त किया था। उनमें एक स्त्री थीं तथा दूसरे थे पुरुष। एक दूसरे का हाथ पकड़े हुये दोनों गंभीर समाधि में पद्मासनासीन थे। इन्हें कोई भी बाह्यभान नहीं था। वहाँ के पहाड़ियों ने इन्हें बीसों वर्ष से ऐसे ही बैठे देखा था। कब से आसीन हैं कोई नहीं कह सका।

इस ग्रंथ मे जिस ज्ञानगंज आश्रम के सूक्ष्म रूप का वर्णन किया गया है, वह एकदेशीय नहीं है। वह योगी की इच्छा के अनुसार कहीं भी व्यक्त हो सकता है। केवल स्थूलरूप ही भौगोलिक सत्ता है, परन्तु अतिप्राकृत ज्ञानगंज को देश तथा काल के बंधन में नहीं बाधा जा सकता। ज्ञानगंज के महायोगी कुतुपानन्द के शिष्य कर्नल अल्काट को भी ऐसे ही देश-कालातीत योगाश्रम का संधान प्राप्त हुआ था। वे 'ओल्ड डायरी लीव्स'' नामक स्वलिखित पुस्तक में इसका सम्यक् विवरण अंकित कर गये हैं। जब कर्नल अल्काट और मैडम ब्लैवटस्की बम्बई में रहते थे, तब मादाम उन्हें एक किराये की घोड़ा गाड़ी पर बैठाकर बम्बई के एक क्षेत्र में ले जातीं। इन्हें गाड़ी में ही छोड़कर स्वयं एक सुरम्य उद्यान से परिवेष्ठित भवन में प्रवेश करती थीं। वहां कई माली कार्य करते भी परिलक्षित होते थे। एक दिन जब मादाम को बागान के भवन में अधिक बिलम्ब हो गया, तब कर्नल उस गाड़ी से उतरे तथा बागान में जाकर वहाँ के एक माली से कुछ प्रश्न किया। शायद उनकी भाषा न समझने के कारण अथवा अन्य किसी कारण से माली निरुत्तर ही रहा। उसने कोई उत्तर नहीं दिया। कुछ समय के पश्चात् मादाम भवन से बाहर आईं और उन्होंने कर्नल को एक सुन्दर पुष्पमाला देते हुये कहा कि यह भवन स्वामी ने दिया है। भवन के सम्बन्ध में मादाम ने उन्हें कुछ भी नहीं बतलाया, फलत: कर्नल का कुतूहल शान्त नहीं हुआ। अगले दिन कर्नल अकेले ही चल पड़े। घोड़ागाड़ी स्टैण्ड पर भाग्यक्रम से वही घोड़ा गाड़ी मिली जिसपर वे लोग कल उस उद्यान तक गये थे। उन्होंने कोचवान से पहले दिन वाले स्थल पर चलने के लिये कहा। कोचवान पहले दिन जितना मार्ग अति-क्रमण किया था, उतना ही चल कर एक स्थान पर आकर रुका और बोला कि कल हमलोग यही तक आये थे। कर्नल देखते हैं कि वह समुद्र के पास का स्थान है। वहाँ कोई उद्यान अथवा मठ का लेशमात्र अवस्थान नहीं था। कोचवान ने कहा कि कल भी हमलोग यहीं आये थे। कल भी यहाँ यही समुद्रतट था। मादाम यहीं घूम फिर कर लौट आई थीं। इस घटना से कर्नल अवाक् रह गये। यहां स्मरणीय है कि मादाम भी स्वामी कुतुपानन्द की ही शिष्या थीं, जो ज्ञानगंज से सम्बद्ध हैं।

इससे यह ज्ञात होता है कि वह बागान तथा भवन स्थूल सत्तात्मक नहीं था। वह सूक्ष्मसत्तात्मक वस्तु थी। वह मादाम की इच्छाशक्ति अथवा कुतुपानन्द की कृपा से कर्नल को दृष्टिगोचर हुआ, परन्तु कोचवान उसे नहीं देख सका। इसका एक समाधान यह भी है कि बागान तथा भवन, दोनों स्थूल सत्तात्मक थे, मादाम

अथवा स्वामी कुतुपानन्द की शक्ति से बम्बई तट एवं उद्यान भवन के मध्य का Space (अन्तराल) तिरोहित हो गया। इससे वह दृष्टिगोचर होने लगा और मैडम ने वहाँ प्रवेश करके माला प्राप्त किया। योगी की इच्छा शक्ति से देशकाल जनित व्यवधान दूर हो जाते हैं।

इस प्रकार से ज्ञानगंज की सत्ता लौकिक एवं अलौकिक दोनों ही है। अलौकिक ज्ञानगंज में भूमि आकाश, जल, तेज प्रभृति सब कुछ स्वप्रकाश रूप है। वहाँ मृत्तिका, आकाश, जल, वायु अग्नि का अस्तित्व ही नहीं है। वहाँ चैतन्य ही पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं गगन रूप से विराजित रहता है। लौकिक ज्ञानगंज में सिद्ध पुरुष रहते हैं। परन्तु जो अलौकिक ज्ञानगंज है, उसका साक्षात्कार योग के चरम शिखर पर उन्नीत होने पर ही हो सकता है। लौकिक ज्ञानगंज कर्मभूमि है।

ज्ञानगंज में जिस कर्म का अनुष्ठान होता है, उसमें काल का ध्वंस करने के लिये काल का ही आश्रय लेते हैं। इसे अष्टक्षण कहा जाता है। इनका विवरण इस प्रकार से है :—

(१) महामहाक्षण—रात्रि ११ १/४ से रात्रि १२ पर्यन्त
(२) महाक्षण—रात्रि १२ से ३ पर्यन्त
(३) ब्राह्मक्षण—रात्रि ३ से सूर्योदय पर्यन्त
(४) मायाक्षण—सूर्योदय से ८ बजे सुबह पर्यन्त
(५) मोहमायाक्षण—८ बजे प्रातः से १२ बजे मध्याह्न पर्यन्त
(६) अभिशप्तक्षण—मध्याह्न १२ बजे से अपराह्न ३ पर्यन्त
(७) दग्धक्षण—अपराह्न ३ से—सन्ध्या के पूर्व पर्यन्त
(८) सन्धि क्षण—सन्ध्याकाल में ठीक सूर्यास्त के समय

सन्ध्या से रात्रि १२ बजे तक के समय को क्षण नहीं कहते। वह त्रिकाल है।

(१) काल—सन्ध्या से रात्रि ८ बजे पर्यन्त।
(२) अकाल—रात्रि ८ से रात्रि १० पर्यन्त।
(३) कालाकाल—रात्रि १० से रात्रि ११ १/४ पर्यन्त।

इन तीनों काल के मिलन से आस्था नामक त्रिकालशक्ति उदित हो जाती है। इसके पश्चात् रात्रि ११ १/२ को आधार कहते हैं। इसमें, अर्थात् कालाकाल की अवस्था में आधारोन्मेष होता है। आधारोन्मेष होते ही ११ १/२ बजे क्षण आकर युक्त होने लगता है। इसे ही महामहाक्षण कहते हैं।

ज्ञानगंज के सिद्ध अद्वैतवादी होने पर भी जीववादी है। समग्र जीवसमूह को उस अद्वय स्थिति का आस्वादन कराना उनका लक्ष्य है जिस एक की, एक ही के द्वारा उपलब्धि कर लेने से समग्र विश्व को उसका आस्वादन मिल सकेगा।

अतः यह वीरों का मार्ग है। यथार्थ वीराचार है। महासत्ता यथार्थतः अनन्त महासमुद्र के समान है। इसमें जब तक तरंग का उन्मेष नहीं होता तब तक वह अव्यक्त रहता है। तिरोधान की स्थिति में महासत्ता का स्वरूप आत्मगोपित रह जाता है। इस आत्मगोपनावस्था की पृष्ठभूमि में प्रमाता-प्रमेय समन्वित समग्र विश्व का उद्भव प्रत्यक्ष होता है। जब अनुग्रह शक्ति जाग्रत होती है, तब यह विश्व अपने पूर्वस्वरूप में प्रत्याहृत हो जाता है।

यह अनन्त अपार बोधरूप समुद्र है। तिरोधान शक्ति की क्रीड़ा के चलते इस महासत्ता में तरंगोन्मेष नहीं हो सकता। उर्मि अथवा तरंग रूप अनुग्रहात्मिका शक्ति का उन्मेष होते ही तिरोधान शक्ति निवृत्तिगामिनी हो जाती है। यह तरंग स्पन्दरूपा है। जो जीव इसका संस्पर्श पाते हैं, उनके अनादि संस्कार में तथा जीवन में परिवर्त्तन होने लगता है। यह परिवर्त्तन ही जीव को परमसत्ता पर्यन्त प्रतिष्ठित कर देता है। यह स्पन्द बोधसमुद्र की तरंग है। यही महाचित्शक्ति का उन्मेष है। चित्शक्ति जीव में उन्मिषित होकर मूलभूत अविद्या के विकल्प जाल का अवसान कर देती है। इस चित्शक्ति का जागरण होता है ज्ञानगंजोक्त महानिशा साधन द्वारा।

उन्मेप प्राप्त चित्शक्ति जब जीव का स्पर्श अनुग्रहावस्था में करती है, तब जीव की विकल्प दृष्टि का शमन होता है। जाग्रत् चित्शक्ति सर्वप्रथम काल को ग्रसती है। काल ही विकल्प रूपी अज्ञान का कारण है। अतः इसे कालसंकर्षिणी शक्ति भी कहा जाता है। यह ग्रसन क्रमशः घटित होता है। इसी कारण अष्टक्षण तथा त्रिकाल साधना की व्यवस्था ज्ञानगंज में की गई है। अब जीव की प्रमेय शुद्धि हो जाती है। यह विशाल विश्व आत्मान्तर्गत् प्रतीत होने लगता है। प्रमेय शुद्धि का तात्पर्य है कि "मैं देह हूँ" इस संस्कार से मुक्ति। यह अनादि संस्कार है। प्रमेय शुद्धि से बाह्यजगत पृथक् नहीं रह जाता, प्रत्युत् वह निजबोध रूप से प्रकाशित होने लगता है। इसे चित्शक्ति का प्रथम उन्मेष कहते हैं। इस प्रक्रिया के अनन्तर विषय-भोग की प्रवृत्ति स्वयमेव समाप्त हो जाती है। इसे ज्ञानगंज में तीर्थस्वामी स्थिति कहते हैं। अब जो विषय ज्ञान है उसे पराशक्ति निर्विकल्प रूपेण अनुभव करती है। यही वीरों का भोग है। यही तुरीयावस्था है। जाग्रदादि किसी भी स्थिति में यह वीर भोग विच्छिन्न नहीं होता। यही है महाशक्ति का प्रसाद। वीरेश्वर त्रितयभोक्ता कहा गया है। यही है यथार्थ भगवत् अर्चना। तीर्थस्वामी की स्थिति यह है कि वह सभी अवस्थाओं में, सभी कर्मों में भगवदार्चन ही अनुभव करता है। उसका प्रत्येक कर्म भगवदार्चन है।

तदनन्तर तृप्ति का उदय होना अवश्यम्भावी है। इससे अन्तर्मुखता आती है। समस्त इन्द्रियवर्ग दिव्य प्रसाद से तृप्त होते हैं। वे जब तक अतृप्त हैं, तब तक जीव

बहिर्मुख है। परन्तु तीर्थस्वामी अवस्था में वीरभोग का प्रसाद प्राप्त करने से इन्द्रियों की जन्म जन्मान्तर जनित अतृप्ति समाप्त हो जाती है। अब इन्द्रियाँ चिदाकाश रूपी महाभैरवसत्ता से सम्पृक्त होती हैं, उनका आलिंगन करती हैं, और उनमें मिलित हो जाती हैं। करणवर्ग प्रमातृस्वरूप में प्रविष्ट हो जाता है। वह प्रमाता में मिलित हो जाता है। अब प्रश्वास क्रिया भी स्तिमित हो जाती है। मात्र (अन्तर्वायु का आश्रय लेकर) श्वास ही विद्यमान रह जाती है। इसे ही प्राणक्रिया की निवृत्ति कहते हैं। यह है परमहंसावस्था। तीर्थस्वामी ही क्रमविकास के अनन्तर परमहंस पदवी से विभूषित किया जाता है। यही ज्ञानगंज की विशिष्ट स्थिति का द्योतक है। इस स्थिति में समस्त ७२ हजार नाड़ी वर्ग में प्रश्वास क्रिया की निवृत्ति के साथ ही अलौकिक साम्य का संचार होता है। यहा है आध्यात्मिक शिवरात्रि। शिवरात्रि में जागरण का अपूर्व महात्म्य ज्ञानगंज में स्वीकृत है। शिवरात्रि में जागरण होता है। जागरण अर्थात् आत्मानुसन्धान।

यह परीक्षा की वेला है। पूर्णस्थिति से अभिन्न होने पर भी यह अभिन्नावस्था नहीं है। इस अवस्था से भी वियुति की सम्भावना है। अतः सतत् स्वरूपावस्थान रूपी आत्मानुसंधान में रहना चाहिये। इससे परमहंस स्थितिका उत्थान होता है और वह निरावरण प्रकाशरूप परासंवित से युक्त रहता है, अन्यथा पतन अवश्यम्भावी है। यह शिवरात्रि ही अनाख्या दशा है। निरावरण प्रकाशपर्यन्त विकसित होने पर "भासा" का आत्मप्रकाशन हो जाता है।

अनाख्या से भासा पर्यन्त की यात्रा में अनेकानेक स्तर हैं। प्रथमतः प्रमेय की संस्कार निवृत्ति होती है। तदनन्तर प्रमातृभाव में अनुप्रवेश होता है। सर्वान्त में परप्रमातृत्व उदित होने लगता है। यही है परमशिव स्थिति। ऊर्ध्वपथ पर चलते समय परमहंस में आदित्यावस्था, रुद्रावस्था तथा भैरवावस्था का उदय होना चाहिये। रुद्रावस्था से भैरवावस्था का उदय होते समय महाकाल भैरव का उदय होता है। कालसंकर्षण पूर्ण होते ही महाशक्ति विश्वजननी जगदम्बा आविर्भूत होती हैं। यही परासंवित हैं। इनकी कृश तथा पूर्ण रूप दो स्थिति होती है। जैसे कालचक्र में कृष्ण पक्ष एवं शुक्ल पक्ष है, वैसे ही यहाँ कृष्णपक्ष के समान कृश दशा है। इसमें महाशक्ति प्रायः निवृत्त हो जाती है। एकमात्र अमाकला स्थित रह जाती है। शेष कलाओं का अवसान हो जाता है। पूर्ण दशा में समस्त कलायें विकसित हो जाती है। यही है महाशक्ति का पूर्ण जागरण। महाशक्ति का पूर्ण जागरण होने पर परमहंस को जगद्गुरु पदवी प्राप्त होती है। वह ज्ञानगंज के नियमानुसार विश्वकल्याण में प्रवृत्त हो जाता है।

ज्ञानगंजोक्त यथार्थ धर्म का स्वरूप

धर्म के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं। इनमें स्थूल भेद तो है ही। सूक्ष्म भेद भी विद्यमान है। धर्म के इतने भेदों को देखकर धर्म पिपासु के अन्तःकरण में धर्म का वास्तविक स्वरूप जानने की इच्छा हो जाना स्वाभाविक है। वह जिज्ञासा करता है कि वास्तविक धर्म क्या है? मानव समूह में प्रचलित धर्म सामान्यतः इन्द्रियग्राह्य विषयों पर ही आधारित हैं। व्यक्ति चर्तुवर्ग प्राप्ति (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) के लिए धर्म करता है, विपत्तिभंजन के लिये, मृत्यु-अपघात से रक्षार्थ धर्म का वरण करता है। ये सब इन्द्रियग्राह्य विषय ही हैं। वास्तव में जो विषयों से अतिरिक्त है, वही धर्म है।

जीव अभावग्रस्त है। अभाव की पूर्ति के लिये वह संसार की ओर अभिमुख होने पर भी यहाँ तृप्ति नहीं प्राप्त कर सकता। उन अभावों की पूर्ति के अनन्तर और भी अधिक अभावों के प्रश्नचिह्न सम्मुख आ जाते हैं। अतः प्रतीत होता है कि विषयों द्वारा आत्मा का अभाव पूर्ण नहीं हो सकता। विषयों से अतिरिक्त आत्मा का एक स्वरूप है। उसे ही पाने पर समस्त अभाव विदूरित हो सकते हैं।

ज्ञेय के कारण ही ज्ञान का परिवर्तन अथवा अभावबोध होता है। ज्ञेय के अभाव में ज्ञान की अपरिवर्त्तनीय अवस्था रहती है। सुषुप्ति में ज्ञेयाभाव के कारण ज्ञान का परिवर्त्तन परिलक्षित नहीं होता। जाग्रत होते ही ज्ञानानुभव होते ही विभिन्न आकार ज्ञेय रूप में उन्मिषित हो जाते हैं। यहीं से अभाव बोध का पुनरावर्त्तन होने लगता है। अतः यह स्पष्ट है कि ज्ञान के स्वरूप में अभाव नहीं है। ज्ञेय ही अभावोत्पत्ति का कारण है। आत्मा के स्व-स्वरूप में ज्ञेय नहीं है। अतः ज्ञेयोत्पत्ति न होने तक उसमें परिवर्तन नहीं होता। उस समय पर्यन्त ज्ञान अपने स्वरूप में रहता है। जाग्रतावस्था में ज्ञान स्वरूप से विच्युत होता है, अतः वह अभावबोध करता है। ज्ञान स्वयं को ज्ञेयाकार में अनुभव करके ही परिवर्तित तथा अभावग्रस्त होता है। ज्ञेय वस्तु के अभाव में जो ज्ञेयबोध है, वही भ्रान्तिरूपा कल्पना है। यही स्वरूपच्युति तथा अभाव बोध का कारण है।

यथार्थ धर्म की प्रतिष्ठा सत्य पर होती है। धर्म के मूल में सत्य रहता है। कल्पना अथवा भ्रान्ति मिथ्या है। आत्मा अथवा ज्ञान का जो निःस्पन्द, आनन्दोत्फुल्ल स्वरूप है, वही सत्य है, स्वप्रकाश है। धर्म उसी पर प्रतिष्ठित सा है। जो धर्म उस पर आधारित नहीं है, वह अधर्म है।

ज्ञान का स्वरूप ज्ञेय रहित है। जब कल्पना के कारण ज्ञेयानुभूति उत्पन्न होती है, तब वही ज्ञान, ज्ञेय तथा आत्मा की त्रिपुटी का द्योतन कराने लगती

है। जीव ज्ञेय को ही स्वरूप मानने की भूल कर देता है। यह द्वित्व की अनुभूति ही स्वरूप से विच्युति है। यही अधर्म है। ज्ञान की इस त्रिपुटी के कारण एक की ही तीनरूपों में अनुभूति होने लगती है और ज्ञान विकृत हो जाता है। अतः जहाँ भी ज्ञेयानुभूति है, वहां ज्ञान स्वरूप से च्युत है। त्रिधा विभक्त ज्ञान की दृष्टि से कल्पना-मूलक ज्ञेय ही स्वरूप भूत प्रतीत होने लगता है। यह मिथ्यास्वरूपानुभूति है। अर्थात् भ्रान्तज्ञान ज्ञान की ज्ञेय परिशून्यावस्था की कल्पना भी नहीं कर सकता। जो धर्म ज्ञान का ज्ञेय है, वही भ्रान्त ज्ञान के लिये धर्म है। विकृत ज्ञान के द्वारा ज्ञेयमूलक धर्म के अतिरिक्त अन्य किसी धर्म की धारणा नहीं की जा सकती।

विचार द्वारा उपलब्धि होती है कि वर्त्तमान जगत् में ज्ञेयमूलक धर्मों का ही प्रचार है। ज्ञेयमूलक धर्म कभी भी आत्मधर्म नहीं हो सकते। वे कल्पना जनित हैं, वास्तविक धर्म से दूर हैं। आधार सर्वदा आधेय से श्रेष्ठतर है। ज्ञेय का आधार है ज्ञान। अतः ज्ञेय अपेक्षाकृत क्षुद्र है। वर्त्तमान ज्ञान कल्पना से ही परिपुष्ट, परिवर्द्धित तथा परिवर्त्तित होता है। इस समय के धर्म उसी ज्ञान के ज्ञेय हैं। अतः वर्त्तमान कालीन धर्म कल्पित ज्ञान के अन्तर्गत हैं। जो धर्म हमारी समझ के अन्तर्गत है, वह हमारा परिवर्त्तन नहीं कर सकता, प्रत्युत हम ही उसे आवश्यकतानुसार परिवर्त्तित करते रहते हैं। यही कारण है कि आज धर्म के विभिन्न आकार हैं। एक स्थल का धर्म, अन्य स्थल के धर्म के अनुरूप नहीं है। इनसे यथार्थ धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। ये सब कल्पित धर्म यथार्थ धर्म के विघ्न है। (द्रष्टव्य शिवसंहिता ५।३।९)

अतः स्वरूपवेत्ता की दृष्टि में धर्म का रूप सार्वजनीन तथा सार्वभौम रहता है। यह समझने तथा समझाने का विषय नहीं है। धर्म समझ का विषय ही नहीं हैं। जहां समझ है, वहां ज्ञेय बैठा हुआ है और ज्ञेय की उपस्थिति मात्र से ज्ञान में त्रिधा विभाजन हो जाता है। जब कल्पना के अतिरिक्त ज्ञान का अस्तित्व ही नहीं है, तब समझ एवं कल्पना एक ही पदार्थ है। कल्पना तो मिथ्या है अतः कल्पित धर्म भी मिथ्या है।

धर्म को समझा नहीं जा सकता। हम वही समझ सकते हैं जो ज्ञेय है। धर्म यदि हमारे ज्ञान से अतीत वस्तु है, तब वह वर्त्तमान ज्ञान का ज्ञेय हो ही नहीं सकता। जब ज्ञान ज्ञेयाकार हो जाता है, उस समय उसके लिये मात्र अनुभूति ही उत्पन्न होती है। समझना-समझाना निःशेष हो जाता है। जो ज्ञान से पृथक् है, हमारे ज्ञान से अतीत है, उसे भी हम नहीं समझ सकते। क्योंकि ज्ञान से ज्ञेय जिस अंश में अलग है, उतने अंश पर्यन्त ज्ञानगम्य हो सकना सम्भव ही नहीं रहता। जब हम किसी विषय को समझते हैं, तब ज्ञान, ज्ञाता के आकार में ज्ञेय को पृथक समझता है। जब तक ज्ञान त्रिधा विभक्त नहीं होगा, उसे समझा ही नहीं जा सकता। अतः धर्म को जब हम समझते हैं, तब उसे ज्ञान से पृथक् रखकर ही समझते हैं। इसके

अतिरिक्त ज्ञान के बाहर का विषय कभी भी समझा नहीं जा सकता। अतः यह स्पष्ट है कि जब हम धर्म को समझना चाहते हैं अथवा समझते हैं, तब वास्तव में धर्म को नहीं समझते। कल्पना में ही उसे समझते हैं।

जहां भी धर्म को समझा जाता है वह धर्म का स्वरूप न होकर कल्पना का ही स्वरूप हैं। अधर्म को ही धर्म समझकर अर्थात् जो धर्म नहीं है उसे ही धर्म मानकर हम संतुष्ट हो जाते है। समझने की चेष्टा करते ही धर्म भी अधर्म हो जाता है। आत्मा का स्वरूप ही यथार्थ धर्म है। वही अनुभव का विषय है। न तो समझा जा सकता से और न समझाया ही जा सकता है। समझ हमारी है। अतः प्रत्येक समझ आत्मा (मैं) से क्षुद्र होती है। जब समझ धर्म को समझने लगती है, तब वह धर्म "मैं" की अपेक्षा क्षुद्र होता है। इसी कारण समझ (बुद्धि) के अनुरूप धर्म से अहंज्ञान ही पुष्ट होगा। अहंज्ञान से अतीत जो आत्मा है, धर्म का यथार्थ स्वरूप है, वह दूरातिदूर होता जायेगा।

विषय के स्वरूप में कल्पना को मिश्रित करने से बुद्धि की उत्पत्ति होती है। बुद्धि के विषय में जो आकार है, उसमें कल्पना विद्यमान है। अतः बुध्य विषयों का जो कल्पनानुरूप स्वरूप है, वह हमारी समझ का जिषय है। विषय का वास्तविक स्वरूप हमारी बुद्धि का विषय नहीं होता। अतः उससे धर्म के कल्पना विहीन यथार्थ स्वरूप को हम नहीं समझ सकते। तार्किक कह सकते हैं कि जब इन्द्रियानुभूति ही इन्द्रिय ज्ञान के लिये सत्य है, तब इन्द्रियज्ञान ही धर्म हैं। परन्तु इन्द्रियानुभूति से कल्पनांश निकाल देने पर उसे समझ सकना असम्भव हो जाता है। अतः इन्द्रिय धर्म अथवा इन्द्रियातीत धर्म समझाये नहीं जा सकते। गीता में भगवान ने कल्पना युक्त इन्द्रिय धर्म को अधर्म कहा है। आत्मस्वरूपार्थ स्वधर्म का निर्देश दिया है। धर्म के स्वरूप में किसी अभाव की गति हो नहीं सकती। आत्मा का स्वरूप अभाव रहित है। कल्पना परिवर्त्तनशील है। अतएव जो कल्पना प्रसूत धर्म है, वह ज्ञेयमूलक होने के कारण सतत परिवर्त्तनशील है।

स्वरूपतः "मैं" के कल्पनातीत रुप को समझना सम्भव नहीं है। अतः जब तक धर्म जानने का विषय बना रहेगा, तब तक धर्म कल्पनानुरूप ही होगा। ऐसे सत्य का कोई मूल्य नहीं होता। अतः आत्मा का नित्यानन्दमय स्वरूप ही धर्म है। संक्षेप में ज्ञान का एकत्व धर्म है। द्वित्व ही अधर्म है। हमारा वर्त्तमान ज्ञान द्वित्वमूलक है अतः द्वित्व से एकत्व की अवधारणा हो ही नही सकती।

यह प्रत्यक्ष है कि गुरु (भ्रूमध्य) स्थान में, (जो कि उकार स्थान है) अवस्थान करने पर द्वित्व बोध नहीं रह जाता। द्वित्व न रहने से अभाव बोध तथा आकांक्षा भी प्रशमित हो जाती है। ज्ञान इसी स्थिति में स्पन्दहीन, क्रिया रहित तथा

तृप्त है। अतः गुरु को ही धर्म एवं उपास्य कहते हैं। हमारे अस्तित्व में आकर्षण तथा विकर्षणात्मक क्रिया चलती रहती है। एक श्वास है अन्य प्रश्वास है। आकर्षण क्रिया भ्रूमध्य में तथा विकर्षण क्रिया नासाग्र द्वादशान्त में (हकार में) लयीभूत होती है। ज्ञान का प्रणवयुक्त स्वरूप रूपान्तरित होकर भ्रूमध्य (उकार) में तथा क्रिया वृद्धि के कारण हकार में परिणत हो जाता है। जहां आकर्षंग है, वही उकार है। विकर्षण में हकार विद्यमान है। यदि उकार में आकर्षण न हो तब देह समाप्त हो जाता है। यह आकर्षण क्रिया स्थावर, जंगम सर्वत्र विद्यमान है। आकर्षण विकर्षण तारतम्य से ही यह संसार अनन्त आकारों में परिवर्त्तित हो जाता है। इस आकर्षण को धराधारक कहते हैं।

द्वित्व कल्पना ही विकर्षण की जननी है। यही विच्युति का कारण है। अतः स्वरूपावस्थानार्थ सर्वदा उकार (भ्रूमध्य) की ओर आकर्षित होता है। आकर्षण आत्मा का स्वभाव है। अतः ज्ञान एवं आत्मा का वास्तविक धर्म है आकर्षण। यही आकर्षण धर्म ही संसार की स्थिति है। अतः शास्त्र कहते हैं कि "धर्म ही प्रजा को धारण करता है।" इस धर्म को पाने के लिये उस सत्य का आश्रय लेना होगा, जिस पर धर्म प्रतिष्ठापित है। उकार अथवा गुरु स्वरूप ही सत्य है। नित्य है। अतः गुरु ही आश्रय है।

जिसने उकार स्थिति को प्राप्त कर लिया है, वह मानव देह में ही ज्ञान है। ऐसे देहधारी मानव गुरु का आश्रय लेना चाहिये। अभ्यास द्वारा गुरु के प्रति भक्ति रूपी आसक्ति का उदय होने से, उनका चिन्तन करने से, उनके द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलने से, धर्म प्राप्त होता है। शिवसूत्र ने कहा है कि गुरु ही उपाय है। यह उक्ति अक्षरशः सत्य है। यही है यथार्थ धर्म का स्वरूप।

ज्ञानगंज का सूर्य विज्ञान

सूर्य विज्ञान के संदर्भ में विशेष आलोचना करने से पूर्व यह आवश्यक है कि इस विज्ञ न के क्रम विकास के इतिहास पर प्रकाश प्रक्षेपण किया जाये। इस सन्दर्भ में सूर्य विज्ञान का अर्थ भी जानना आवश्यक सा है। जिनको श्री गुरुदेव का संपर्क प्राप्त नही हुआ हैं, अथवा जिनको परम्परा क्रम से इस विषय में श्रवणाधिकार प्राप्त नहीं है, वे इस शब्द से कुछ भी धारण कर सकने में असमर्थ हैं। आधुनिक जगत में इस विज्ञान का प्रथम परिचय श्री गुरुदेव ने प्रदान किया था। सन् १९१७ ई० साल के दिसम्बर मास में मैंने श्री गुरुदेव का प्रथम दर्शन प्राप्त किया था। वे असाधारण योगी तथा अलौकिक योगैश्वर्य सम्पन्न महापुरुष थे, यह मैंने लोगों से सुना था।

दीर्घकाल से तिव्वत में अवस्थान करके सिद्ध गुरु की शिक्षा के प्रभाव से उन्होंने योग की वह प्रक्रिया तथा विभूति आयत्त किया था जो साधारण भारतवर्ष से लुप्त हो चली थी। इसके अतिरिक्त ज्ञान के एक अन्य आयाम को भी उन्होंने आयत्त किया था। वह है विज्ञान की महाभूमि। यह निःसंदिग्ध है कि योग तथा विज्ञान, दोनों ही अलौकिक है तथा सृष्टि प्रभृति समस्त कृत्य दोनों ही प्रणालियों से सम्पन्न हो जाता है। अतएव बाह्यदृष्टि से दोनों प्रणालियों में पार्थक्य की खोज कर सकना सहज नहीं है। जो विज्ञान का तत्व नहीं जानने, वे विज्ञान के समस्त कार्यों को योग-शक्ति का कार्य मानते हैं। वस्तुतः दोनों में मौलिक भेद विद्यमान है। उच्च अधिकार की प्राप्ति किये बिना यह भेद अवगत नहीं हो सकता।

यहाँ पर हम विज्ञान शब्द से सूर्य विज्ञान को ही लक्ष्य करते हैं। यहाँ स्मरण रखना ही होगा कि यद्यपि सूर्य विज्ञान का महत्व सर्वापेक्षा अधिक है, तथापि यही एकमात्र विज्ञान नहीं है। कारण चन्द्रविज्ञान, वायु विज्ञान, शब्द विज्ञान; क्षण-विज्ञान प्रभृति का उल्लेख भी उनके मुख से सुना था। प्रत्येक विज्ञान के द्वारा उन्होंने वस्तु सृष्टि का प्रदर्शन हम लोगों के सम्मुख किया था। वे अधिकांशतः सूर्य विज्ञान की ही क्रीड़ा सबको दिखलाते थे। सूर्य विज्ञान के द्वारा जो कुछ भी किया जाता है, वह अन्य विज्ञान समूह द्वारा भी किया जा सकता है, यह हमने प्रत्यक्षतः देखा था। इसके साथ ही वे यह भी प्रतिपादित करते रहते थे कि विभिन्न विज्ञानों के द्वारा वस्तु सृष्टि के तत्व तथा प्रक्रिया में भेद है। यह सामान्य बुद्धि के द्वारा समझा ही नहीं जा सकता। उदाहरण के तौर पर जागतिक वस्तु तथा सूर्य विज्ञान से सृष्ट उसी वस्तु में वाह्यतः समरूपता प्रतीत होती है, परन्तु वह वास्तव में विलक्षण होती है। इसी प्रकार यदि एक वस्तु सूर्य विज्ञान से उद्भूत है और वही वस्तु अन्य विज्ञान से उद्भूत है, उसमें भी पारस्परिक रूप से एक वैशिष्ट्य विद्यमान रहता है। जैसे कपूर एक जागतिक वस्तु है। कपूर सूर्य विज्ञान के अनुसार साक्षात् रूप से सूर्य रश्मि से उद्भूत हो सकता है, उसी प्रकार चन्द्ररश्मि अथवा वायु विज्ञान के अनुसार भी संरचित हो सकता है। जागतिक दृष्टि से अथवा वाह्य विज्ञान की दृष्टि के अनुसार इसका पारस्परिक तुलनात्मक विश्लेषण करने पर कोई भी पार्थक्य परिलक्षित नहीं होगा। केवल सूक्ष्म दर्शन से ही इसका विश्लेषण करने के उपरान्त पार्थक्य विदित हो सकता है। अतः सूर्य विज्ञान से उद्भूत वस्तु की तुलना में अन्य विज्ञानों से उद्भूत वस्तु में पार्थक्य विद्यमान रहता है। वाह्य तथा प्राकृतिक सृष्टि की वस्तु मलिन होती है। विज्ञान द्वारा सृष्ट वस्तु निर्मल होती है। इस सत्य को बाबा विशुद्धानन्द ने ज्ञानगंज की कृपा से प्रत्यक्ष प्रदर्शित किया था और सिद्ध किया था। इस विज्ञान से सजीव प्राणी भी सृष्ट हो सकते हैं। प्राकृत दृष्टि से यौगिक सृष्टि में यही विशिष्टता होती है।

विभिन्न विज्ञानों की सृष्टि की आलोचना यहाँ नहीं की जा रही है। यहां केवलमात्र सूर्य विज्ञान का तत्व ही आलोच्य है। विज्ञान तथा योग प्रणाली की सृष्टि क्रिया में पारस्परिक पार्थक्य है। सूर्य विज्ञान सूर्यरश्मि ज्ञान पर निर्भर करता है। इस रश्मि को वर्ण अथवा प्रचलित भाषा में रंग कहते हैं। इसके विभिन्न संयोग वियोग के फल से विभिन्न प्रकार के पदार्थ की अभिव्यक्ति होती है। रश्मि को वस्तु सत्ता का अभिव्यंजक कहते हैं। अतएव सूर्यरश्मि के साथ परिचय स्थापन करके विभिन्न रश्मियों का परस्पर संघटन करना ही सूर्य विज्ञान का रहस्य है। इसके द्वारा सृष्टि भी हो सकती है। संहार भी होता है। साथ ही प्रयोजन होने पर स्थिति तथा रक्षा भी हो सकती है। सृष्टि तथा संहार की युगपत् क्रिया में रूपान्तर भी हो सकता है। विज्ञान की सृष्टि के मूल में प्राकृतिक उपादान के ऊपर क्रियाशक्तिमूलक नियन्त्रण रहता है। एतद्विपरीत योगबल से जो सृष्टि होती है, वह इस प्रकार की नहीं है। योगसृष्टि में इच्छाशक्ति सर्वप्रधान है। इस सृष्टि में पृथक् उपादान की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसका उपादान है स्रष्टा की अपनी इच्छा। अर्थात्, इच्छाशक्ति की सृष्टि में निमित्त तथा उपादान के रूप में आत्मा ही विराजित रहती है। इसका तात्पर्य यह है कि योगी स्व-स्वरूप के अतिरिक्त किसी अन्य उपादान की सहायता ही नहीं लेता। वह इच्छाशक्ति के प्रभाव से अन्तःस्थित अभिलषित पदार्थ को बाहर कर देता है। आत्मा में अन्तःस्थित अभिलषित पदार्थ को इच्छा द्वारा बाह्यतः प्रकाशित करना ही योगसृष्टि है। तांत्रिक परिभाषा में यही है विन्दु की विसर्ग लीला। अद्वैत भूमि स्थित योगी इच्छाशक्ति के द्वारा सृष्टि करते हैं। शक्तिसूत्र में कहा गया है "स्वेच्छया स्व-भित्तौ विश्वमुन्मीलयति"। अतएव उत्पलाचार्य कहते हैं :—

"चिदात्मा हि देवोऽन्तः स्थित मिच्छावशाद बहिः।
योगीव निरूपादान मर्थजातं प्रकाशयेत॥"

श्री शंकराचार्य कहते हैं कि समग्र विश्व आत्मा के स्वरूप के ही अन्तर्गत है। दर्पण में प्रतिविम्बरूप से दृश्यमान नगरी भी दर्पण के ही अन्तर्गत है। वह दर्पण से व्यतिरिक्त नहीं है। इसी प्रकार प्रकाशमय आत्मा में प्रतिभासमान दृश्य आत्मा के ही अन्तर्गत है। आत्मा से पृथक् नहीं है। ज्ञानी इस प्रकार से विश्व को देखते रहते हैं। उनकी दृष्टि में आत्मा से पृथक् कुछ भी नहीं है। जो अज्ञानी हैं, वे प्रकाशमान आत्मा के स्वरूप का दर्शन नहीं पा सकते। वे जागतिक पदार्थ को आत्मातिरिक्त समझने की त्रुटि करते रहते हैं। इसका एकमात्र कारण है माया का प्रभाव। माया शक्ति देश और काल का उद्भावन करके आत्मनिहित विश्व को देश-काल के द्वारा परिच्छिन्नरूपेण एवं पृथक्रूपेण मित प्रमाता अथवा जीव के निकट प्रदर्शित करती है। ईश्वर मायाशक्ति का अधिष्ठाता है। ऐश्वर्य सम्पन्न योगी भी आंशिक रूप से यही है। अतएव योगी अघटन घटन पटीयसी मायाशक्ति का आश्रय लेकर किसी भी

पदार्थ को बाह्यत: प्रदर्शित करते हैं। यही है योगी की इच्छाशक्ति का व्यापार। इच्छा अथवा स्वातंत्र्यशक्ति ही मायाशक्ति का स्वरूप है। इसका वाह्य प्रकाशन ही अज्ञानान्ध जगत की दृष्टि में वस्तु की उत्पत्ति अथवा आविर्भाव के रूप में प्रतीत होता है, परन्तु यह वास्तव में आत्मा के साथ अभिन्नतया स्थित वस्तु का अर्थात् आत्मशक्ति का ही वाह्य प्रकाशन है। यह स्मरण रखना चाहिये कि यह वाह्यभाव वास्तव में ज्ञानी तथा योगी की स्वरूप दृष्टि में नहीं हैं। अज्ञानी अथवा संसार की परिच्छिन्न दृष्टि में भी नहीं है। इसे दोनों दृष्टि का सम्बन्ध मूलक दृष्टिकोण ही कहा जा सकता है।

विज्ञान की दृष्टि में इच्छाशक्तिरूप मौलिक इच्छा में कोई भी क्रिया नहीं रहती। वहाँ साधारण इच्छा तो अवश्य रहती है, अन्यथा क्रियाशक्ति कार्य ही नहीं करती। विज्ञान की सृष्टि का दो दिक् है। एक है योगी तथा ज्ञानी का विज्ञान तथा दूसरा है अयोगी और अज्ञानी का विज्ञान। योगी और ज्ञानी जगत के मूल उपादान को स्वरूप से अलग नहीं देखते। वे इच्छा करके (कल्पितभाव से) उसे पृथक् भी देखने में समर्थ रहते हैं। जो पूर्ण योगी अथवा ज्ञानी नहीं हैं, अथवा जो स्वरूप में पृथक्भाव से प्रकृति अथवा उपादान का साक्षात्कार प्राप्त करते हैं, वे इस भेददृष्टि का अवलम्बन लेकर सृष्टिकार्य में प्रवृत्त होकर सृष्टि प्रक्रिया का सहाय्य लेते हैं। अर्थात् जो प्रकृति को स्वात्मा से अभिन्न मानते हैं, वे सृष्टि काल में इच्छा शक्ति का प्रयोग करते है। पक्षान्तर से वे प्रकृति को अपने से पृथक् देखकर ही सृष्टिकाल में विज्ञान की क्रियाओं का अवलम्बन लेते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जब प्रकृति को स्वात्मा से अभिन्न मानते हैं तब इच्छाशक्ति से सृष्टि करते हैं और जब स्वयं को प्रकृति से भिन्न मानते हैं तब विज्ञान की सहायता से सृष्टि करते हैं।

विज्ञान की क्रिया में ज्ञान भी है और क्रिया भी है। ज्ञान के अभाव में क्रिया संभव ही नहीं होती। ज्ञान का यहाँ तात्पर्य है उपदानगत अपरोक्ष ज्ञान। जिस उपादान को लेकर कार्य (वस्तु) का निर्माण होता है, वह उपदान यदि प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं होता, उस स्थिति में उसके ऊपर क्रियाशक्ति का प्रयोग कैसे हो सकता था ? यहाँ यह जानना चाहिये कि यह प्रत्यक्ष ज्ञान अभेदात्मक नहीं है। क्योंकि उससे पृथक् रूप से क्रिया का प्रयोजन नहीं होता। एकमात्र इच्छा के ही द्वारा क्रिया का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। जब तक भेदज्ञान नहीं कट जाता, तबतक इच्छा शक्ति का प्रयोग असंभव है। यहाँ विज्ञान के अन्तर्गत ज्ञान एवं क्रिया, दोनों का ही अनुशीलन करना आवश्यक है।

विज्ञान के उर्ध्व की दिशा का रहस्य अत्यन्त गम्भीर है। यहां इच्छाशक्ति का भी प्रवेश नहीं है। इच्छाशक्ति का आविर्भाव ईश्वर अवस्था में होता है, किन्तु परम विज्ञान का व्यापार महाशक्ति के अन्तःपुर की क्रीड़ा है। इच्छाशक्ति (ईश्वर)

समग्र विश्व की सृष्टि का मूल कारण है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि ईश्वर अथवा इच्छाशक्ति के स्फुरण के मूल में जो अतीव गुह्यशक्ति कार्य करती रहती है, वह परमविज्ञान की आश्रयरूपा महाशक्ति की ही अंगभूता है।

अब हम परमविज्ञान की चर्चा के उपरान्त साधारण विज्ञान की चर्चा प्रारंभ करते हैं। यहाँ सूर्य विज्ञान का ही तात्पर्य जानना चाहिये। जागतिक सृष्टि तथा संहार का व्यापार शक्ति का संकोच तथा विकास ही है। प्रकारान्तर से इस प्रक्रिया को योग वियोग की प्रक्रिया ही कहते हैं। इस तत्व को पूर्णत: हृदयंगम करने के पहले पदार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में दृष्टिकोणद्वय की विवेचना प्रासंगिक प्रतीत होती है। एक दृष्टिकोण से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि अवयव का यथाविधि संस्थान होने से ही अवयवी उत्पन्न होता है। अवयव समूह को सम्यकरूपेण समझ सकने पर, उसकी संयोजन प्रणाली आयत्त कर सकने पर, अवयव समूह के सम्मिलन द्वारा इच्छानुरूप अवयवी को स्फुरित किया जा सकता है। जैसे वर्ण के द्वारा पदरचना होती है, उसी प्रकार अवयव के द्वारा अवयवी रचित होता है। इस रचना प्रणाली में मात्र अवयव रचित होता है। इस रचना प्रणाली में मात्र अवयव समूह का ही गुरुत्व नहीं है, किन्तु अवयव समूह के पारस्परिक सम्बन्ध अथवा आनुपूर्वी की आवश्यकता रहती है। शिक्षार्थी के लिये अवयव का परिचय आवश्यक है। साथ ही आनुपूर्वी का भी ज्ञान आवश्यक सा है। इस प्रणाली द्वारा स्वभाव की सृष्टि के निम्नस्तर को परिलक्षित किया जाता है। इस प्रणाली की विशिष्ठता यह है कि जब तक अंतिम अवयव का आविर्भाव अथवा योजना नहीं हो पाती, तब तक समग्ररूपेण अवयवी को प्राप्त ही नहीं किया जा सकता। मध्य में अथवा अन्त में एक भी अवयव का अभाव होने पर अथवा एक का भी आधिक्य हो जाने पर, पूर्वं निर्दिष्ट कार्य उद्भूत नहीं हो सकता। कार्य की उत्पत्ति द्रुत अथवा विलम्बित हो सकती है, किन्तु यथोचित रूप से अवयव का सन्निवेश हुये बिना अवयवी की उत्पत्ति असंभव है।

यहाँ जो कुछ कहा जा रहा है, वह अवयवी को मानकर अथवा अवयव से उसका पृथकत्व स्वीकार करके ही कहा जा रहा है। एक यह भी दृष्टिकोण है कि अवयव से अवयवी पृथक् नहीं है। इस दृष्टिकोण में भी आविर्भाव का नियम मूलत: एक ही प्रकार का है। संघात अथवा समष्टि भी युतसिद्ध अथवा अयुतसिद्धरूपेण दो प्रकार की होती है। अत: अवयवी को स्वीकार न करने पर भी (गुण-क्रिया से द्रव्य को पृथक् स्वीकार न करने पर भी) पूर्ववर्णित नियमों में कोई व्यतिक्रम नहीं हो सकता। अवयवी अथवा द्रव्य स्थल में अयुतसिद्ध अवयव सम्पन्न संघात मान लेने पर ही आलोचना की जा सकती है।

यह एक दिशा का ही वर्णन है, तथापि जागतिक नियम को मान लेने पर एक और दिशा भी परिलक्षित होने लगती है। इस दृष्टिकोण के अनुसार अवयव

संस्थान को न मानने पर भी तथाकथित अवयवी (वस्तुविशेष) की सत्ता की उपलब्धि होने लगती है। सूर्य विज्ञान के संदर्भ में इसे भी स्मरण रखना आवश्यक है। कार्य विन्दु और कारण विन्दु का वर्णन करते समय वस्तुमात्र को पूर्वोक्त प्रकार से सावयव एवं निरवयव मानना ही होगा। अर्थात् अखण्ड एवं खण्डरूपी दिशाद्वय से ही सृष्टिक्रम का विश्लेषण आवश्यक है। इसका प्रयोजन भी है। जहाँ समग्र वस्तु-ज्ञान का विषय अथवा उसकी अभिव्यंजक कारण सामग्री ज्ञान से अगोचर है, उस स्थल पर भी वैज्ञानिक सृष्टि की प्रक्रिया निरुद्ध नहीं रह सकती। जिसे Formula कहा जाता है, (वह अज्ञात रहने पर भी) उसका आविष्कार हो ही जाता है। कारणविन्दु मूलसत्ता से प्रक्षिप्त होता है और उसके प्रभाव से उपादान में जो क्षोभाविर्भाव होता है, उसका सम्यक् विश्लेषण करने से आपेक्षिक रूपेण सृष्टि का Formula विदित होने लगता है। कारणविन्दु ही क्षुब्ध होकर कार्यबिन्दु के रूप में आविष्कृत होने लगता है। क्षोभ का विश्लेषण करने पर अवयव समष्टि तथा उसके पारस्परिक सम्पर्क को सहज रूप से प्रत्यक्ष कर सकते हैं। अर्वाचीन शिक्षार्थी कारण-विन्दु को, योनितत्व को, प्रत्यक्ष नहीं करते। वे विन्दु प्रत्यक्ष का सामर्थ्य भी प्राप्त नहीं करते। केवलमात्र क्षोभजन्य अवयव समूह तथा उसकी पारस्परिक सापेक्षता का ही प्रत्यक्षाधिकार प्राप्त हो जाने पर सृष्टि का Formula आविष्कृत हो जाता है। इसी स्थान से विज्ञान सृष्टि की नियमावली संगृहीत की जा सकती है। तदनन्तर केवल इसी नियम का अनुसरण करके अवयव का प्रत्यक्ष दर्शन करने वाले और आपेक्षिक क्रियाशक्ति के अधिकारी विज्ञान सृष्टि में प्रवृत्त हो जाते हैं।

योगी तथा वैज्ञानिक यह कहते हैं कि जगत की सभी वस्तु सर्वात्मक है अर्थात् जगत् की किसी भी वस्तु में अन्य वस्तु की भी सत्ता आंशिक रूप से विद्यमान रहती है। सृष्टि में कुछ भी निरपेक्ष नहीं है। हम किसी विशेष वस्तु को उसके विशेष रूप अथवा नाम के द्वारा, किंवा गुण-क्रिया के द्वारा पहचानते हैं। परन्तु इतने से यह समझना त्रुटिपूर्ण है कि उसमें अन्य वस्तु का उपादान-नहीं है। प्राकृतिक मूल उपादान की अभिज्ञता हो जाने पर यह ज्ञान हो जाता है कि यही उस वस्तु का मूल उपादान है। उसी के परिणाम क्रमान्तरगत् उस वस्तु का आविर्भाव हुआ है। इतने पर भी प्रकृति तो एक तथा अभिन्न है। प्रत्येक वस्तु के मूल में प्रकृतिरूप उपादान की ही विशिष्टता रहती है। किसी भी वस्तु में समस्त जागतिक वस्तु का उपादान सन्निहित रहता है। अतएव प्रयोजनानुरूप उसे किसी भी वस्तु के रूप में परिणत कर सकते हैं। जिसे हम गुलाब कहते हैं, वह वाह्यतः गुलाब ही है, तथापि उसके उपादान में विश्व सृष्टि का मूल उपादान सन्निहित रहता है। प्रयोजनानुसार उसमें से पद्म पुष्प का उपादान आकर्षित करते हुये, एक पद्मपुष्प का निर्माण किया जा सकता है। इसी प्रकार उससे प्रयोजनानुसार जवापुष्प अथवा

चम्पा का पुष्प भी निर्मित किया जा सकता है। केवलमात्र पुष्प ही नहीं, उस गुलाब को किसी भी वस्तु के रूप में परिवर्तित भी किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि उसमें समस्त वस्तु समूह के उपादान स्थित हैं। गुलाब पुष्प की सृष्टि में गुलाब का ही उपादान विशेष रूप से कार्य करता है, अन्यान्य उपादान अव्यक्त रूप से ही रह जाते हैं। जब गुलाब को पद्मफूल में परिणत किया जाता है, तब गुलाब के फूल में स्थित पद्मपुष्प के उपादान को क्रियाशील करते हैं। अब पद्म का उपादान क्रियाशील हो जाता है। यह क्षुब्ध उपादान वाह्यसृष्टि से स्वजातीय उपादान का आकर्षण करता है और क्रमशः पुष्ट होने लगता है। इससे पद्मपुष्प आविर्भूत हो उठता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जिस अनुपात में पद्म का उपादान प्रबल (पुष्ट) होकर अभिव्यक्त होता है, उसी अनुपात में गुलाब का उपादान क्षीण होकर अव्यक्त हो जाता है किन्तु अव्यक्त हो जाने पर भी शून्यरूप नहीं होता। इसका कारण यह है कि मूल प्रकृति में अव्यक्तरूपेण सभी उपादान विद्यमान रहते हैं। वाह्य दृष्टि से यह उपलब्धि होती है कि गुलाब पद्मपुष्प के रूप में परिणत हो गया है। अब गुलाब का नाम, रूप तथा क्रिया नहीं है। पक्षान्तर से पद्म का नाम, रूप तथा क्रिया ही व्यक्त है। वास्तविकता तो यह है कि गुलाब पद्मरूप में परिणत नहीं हुआ है। हुआ यह है कि गुलाब सूक्ष्मरूप में स्थित है और पद्म स्थूलरूपेण परिस्फुरित है। पहले पद्म सूक्ष्म-रूप में था तथा गुलाब स्थूलरूप में था। अब उसका व्यतिक्रम हो गया है।

इस प्रकार विचार करने से ज्ञात होगा कि प्रत्येक वस्तु का पृष्ठदेश अव्यक्त है और सूक्ष्मभाव के मूल में प्रकृति विद्यमान है। आपूरण के तारतम्यानुसार विभिन्न प्रकार के कार्य की उत्पत्ति होती है और वस्तु उत्पन्न हो जाती है। योगीगण इस सत्य का आश्रय लेकर अभ्यास योग में प्रवृत्त हो जाते हैं। मनुष्य की स्वसत्ता में भी सूक्ष्मरूप से पूर्ण भगवत्सत्ता अथवा दिव्यसत्ता विद्यमान रहती है। उसे अभिव्यक्त तथा प्रकाशित करना ही अभ्यास योग का उद्देश्य है। अच्छी-बुरी सत्ता सबमें विद्य-मान रहती है। जो जिस सत्ता को प्रस्फुटित कर देता है, उसके समक्ष वही अभिव्यक्त हो जाती है।

योगसूत्रकार पतंजलिदेव कहते हैं "जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्" अर्थात् प्रकृति अथवा उपादान का आपूरण होने पर एक जातीय वस्तु में अन्य जातीय वस्तु परिणत हो जाती है। प्रकृति का परिणाम स्वाभाविक होने पर भी इस परिणाम के प्रकार भेद के सम्बन्ध में निमित्त कारण की आवश्यकता है। यद्यपि प्रकृति से ही सब कुछ आविर्भूत होता है, तथापि निमित्त का अभाव हो जाने के कारण कार्यतः यह नहीं हो सकता। प्रकृति का प्रवाह जिस दिशा में उन्मुक्त होता है, उसी प्रकार कार्य भी उद्भूत होता है। जीव की कर्मशक्ति, योगी की इच्छाशक्ति अथवा भगवान की कृपा-शक्ति भी निमित्त के ही अन्तर्गत है। यह निमित्त प्रकृति का प्रयोजक नहीं है, अर्थात्

यह प्रकृति को किसी निर्दिष्ट दिशा में प्रेरित नहीं करता। यह निमित्त ही प्रकृति के आवरण विशेष को नष्ट करता है। आवरण भंग हो जाने पर उसी दिशा में प्रकृति का परिणाम घटित होने लगता है। जिस दिशा का आवरण नष्ट नहीं होता, वहाँ परिणाम संघटित ही नहीं होता। आवरण को निवृत्त करने का लौकिक उपाय है जीव की कर्मशक्ति। धर्म तथा अधर्म भेद से कर्म दो प्रकार का होता है। जहाँ धर्म प्रतिबंधक अथवा आवरणरूप से विद्यमान है, वहाँ प्रकृति का अखण्ड परिणाम कार्योन्मुख नहीं हो सकता। इस आवरण का अपसारण हो जाने पर प्रकृति से दुःखसृष्टि होना अवश्यम्भावी है। इसी प्रकार जब प्रकृति में अधर्म का आवरण विद्यमान रहता है, तब प्रकृति में सुख का अभाव होने लगता है। धर्म चिन्तन द्वारा अधर्म नामक आवरण अपसारित होता है और प्रकृति से दिव्य सुख का आविर्भाव होने लगता है।

अतः सिद्धान्त यह है कि प्रकृति में सब कुछ होने पर भी, उससे सब कुछ सर्वकाल में बहिर्गत नहीं हो सकता। प्रकृतिगत आवरण के विनाशक को निमित्त कहते हैं। आवरण का विनाशक होने पर भी यह प्रकृति को स्वीय कार्य की ओर उन्मुख करने में समर्थ नहीं है। यद्यपि जल स्वभावतः निम्नगामी है, किन्तु प्रतिवन्धक रहने पर उसकी अधोगति स्तम्भित रह जाती है। किसी प्रक्रिया विशेष के द्वारा इस प्रतिवन्धक का अपसारण कर सकने पर उसकी स्वाभाविक अधोगामिता स्वयमेव संघटित होने लगती है। प्रकृति के विश्व परिणाम के सम्वन्ध में भी यही नियम कार्यकारी है।

इस प्राकृतिक सृष्टि के रहस्य को आयत्त न कर सकने पर सूर्य विज्ञान के तत्व की धारणा कर सकना अत्यन्त कठिन होगा। जिस वर्णमाला के द्वारा पद-वाक्य आदि क्रम से मानवीय भाषा का गठन होता है, उस वर्णमाला के मूल में भी यह रहस्य सन्निहित रहता है। प्रत्येक वर्ण स्वरूपतः सर्ववर्णात्मक है। वाह्यदृष्टि से स्थूलभाव में वर्ण पृथक-पृथक है, तथापि वर्ण का मूल उपादान प्रत्येक वर्ण में है और उसमें समस्त वर्णों की अभिव्यक्ति की संभावना होती रहती है। अतः योगीगण कहते हैं कि प्रत्येक वर्ण में सर्वाभिधान का सामर्थ्य है। हम जिस वर्ण के साथ अन्य वर्ण का संघटन करते हैं, वह होता है स्थूलरूप में कार्य की अभिव्यक्ति के लिये। एतद्विपरीत योगीगण अन्तर्मुखी दृष्टि के द्वारा जब किसी वर्ण की ओर लक्ष्य करते हैं, तब वे वहाँ सर्ववर्ण समूह की मूल प्रकृति का ही प्रत्यक्ष करते हैं।

प्रकृति का धर्म है परिणाम। जो यह मानते हैं कि काल प्रभाव से गुण परिणाम होता है, वे काल को ही प्रकृति के परिणाम का निमित्त कारण बतलाते हैं। अन्य विज्ञजन ईश्वरेच्छा को ही निमित्त स्वीकार करते हैं। यहाँ स्वभाववाद का आश्रय लेकर आलोचना की जा रही है। यद्यपि परिणाम प्रकृति का स्वभाव है, तथापि किसी निमित्त के अभाव में वह सदृश परिणाम के रूप में प्रकाशित होने

लगता है। प्रकृति के विसदृश परिणाम की क्रिया के अभाव में सदृशपरिणाम से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। उससे किसी भी धर्म का आविर्भाव नहीं होता। प्रकृतिगत परिणाम दो प्रकार के होते हैं, प्रथम है तत्वान्तर परिणाम और द्वितीय है धर्मादि परिणाम। तत्वान्तर परिणाम की एक अवसान भूमि है। तदनन्तर प्रकृति धर्मीरूप में आत्मप्रकाशन करती है। अब इस धर्मीरूप प्रकृति से धर्मरूप परिणाम का प्रकटीकरण होने लगता है। यही है सृष्टि का प्रारंभ। यह देश कालादि के द्वारा आवद्ध नहीं है। यह कालान्तर्गत भी नहीं है। धर्मरूप परिणाम जिस भूमि में होता है, उस भूमि में यह निरन्तर तथा नियत है। एक प्रकार से विश्व का समस्त धर्म इस भूमि में विद्यमान है, अथच किसी निर्दिष्ट धर्मरूप से वह इंद्रियगोचर नहीं होता। इसी भूमि से परिणाम स्रोत काल के राज्य में प्रवेश करता है। अब यह धर्म देहावच्छिन्न प्रमाता को दृष्टिगोचर होने लगता है। हम वर्तमान काल से जो समझते हैं, उसमें यह धर्म प्रवेश करता है।

यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि वर्तमान काल में प्रवेश करने से पहले यह धर्म था अथवा नहीं था, और यदि था तब कहाँ था? इसका उत्तर यह है कि यह अनागत काल में था। जिसे धर्म की भूमि कहते हैं, उसका कुछ अंश इस अनागत भूमि के साथ अभिन्नतया स्थित था। अनागत कालस्थ यह अव्यक्त धर्म ही वर्तमान में प्रविष्ट होकर द्रष्टा को दृष्टिगोचर होता है। दृष्टिगोचर होने के पहले यह धर्म तो निःसंदिग्ध रूपेण विद्यमान था, यह तथ्य स्पष्ट है। धर्मरूप परिणाम पूर्व से ही सिद्ध है। उससे वर्तमान में धर्म विशेष का अवतरण होता है। सभी धर्मों का अवतरण नहीं होता। सामग्री के प्रभाव से अव्यक्त धर्म अभिव्यक्त होता है। जागतिक भाषा में यही उसकी उत्पत्ति है। अतएव उत्पन्न होने से पहले से ही यह धर्म अव्यक्त अनागत काल के गर्भ में निहित था। अव्यक्त कालगर्भ आविर्भूत धर्मभूमि का ही एक क्षुद्र अंश है। इस मूलभूमि से धारा के भेदानुसार विभिन्न धर्म प्रकट होते रहते हैं। धर्म (कार्य) वस्तु आविर्भाव से लेकर तिरोभाव क्षण तक निरन्तर परिणाम युक्त अवस्था में रहकर पुनः अव्यक्त हो जाती है। अनागत तथा अतीत भूमि भी अव्यक्तभूमि है। अव्यक्तभूमि होने पर भी दोनों में भेद है। इसका कारण यह है कि सृष्टि की धारा अनागत से वर्तमान की ओर तथा वर्तमान से अतीत की ओर प्रवहमान रहती है। यद्यपि अतीत भी अनागत के समान अव्यक्त है, तथापि अतीत से होकर धारा वर्तमान की ओर नहीं चलती। धारा का निर्गमन अनागत से होकर वर्तमान की ओर चलता रहता है।

यह तत्व स्मरण रखना आवश्यक है। इसका कारण यह है कि योगबल से अथवा विज्ञान के द्वारा अतीत अथवा विनष्ट वस्तु का भी पुनरुत्थान होता है। यहां यह पुनरुत्थान भी पूर्वोक्त कार्यवस्तु का क्षणभेदयुक्त प्रतिबन्धक ही है। यह कैसे संभव होता है? इसकी विवेचना विज्ञान दृष्टि से की जाती है।

जबतक कार्यवस्तु उदित अथवा व्यक्त अवस्था में हैं, तब तक निरन्तर ही उसका परिणाम होता है। वास्तव में प्रतिक्षण परिणाम घटित हो रहा है। यद्यपि क्षणिक परिणाम सामान्य लोगों के लिये दृष्टिगम्य नहीं है, तथापि अनुमान के द्वारा वह स्पष्टतः निश्चित होता है। यह परिणाम वर्त्तमान धर्म में होता है। वास्तव में अनागत धर्म का भी परिणाम स्वीकार करना ही होगा, क्योंकि परिणाम के ऊपर ही अनागतकाल से वर्त्तमानकाल में वस्तु की गति संभव होती है। अव्यक्त अवस्था

में परिणाम अतीन्द्रिय है, फिर भी उसका अस्तित्व सिद्ध ही है। कारणव्यापार के विना अनागत रूपी सद्वस्तु वर्त्तमान रूप में प्रतिभात नहीं हो सकती। जब वर्त्तमान प्रतिभास कट जाता है, तब यह वस्तु अतीत रूप में अव्यक्त के गर्भ में पुनः प्रवेश करती है। अतीत तो अतीत होने पर भी सत् है। वह अलीक नहीं है। अनागत एवं अतीत सत्ता वर्त्तमान से पृथक् है। इतने पर भी यह सत्य है कि अतीत वर्त्तमान में प्रतिष्ठित होते ही अतीत नही रह जाता और अनागत भी वर्त्तमान में सत्तान्वित होते ही अनागत नहीं रह जाता। चक्राकार मण्डल की रचना होने पर, वह एक अखण्डमण्डल के रूप में प्रकाशित होने लगता है। यद्यपि अतीत-अनागत में पार्थक्य नहीं है, तथापि गुरु के उपदेशानुसार एक कृत्रिम पार्थक्य की सृष्टि कर ली जाती है। धर्मी से एक पार्थक्य स्फुरित होने लगता है। विज्ञान के प्रभाव से धर्म से निष्कृति प्राप्त होती है, तथापि धर्मी की वस्तुगत विशिष्टता स्थित रह जाती है।

'क' एक कार्यवस्तु है। वह अनागतवस्था में जैसी है, वैसी ही अतीत एवं अव्यक्तावस्था में है। यह उभय अव्यक्तभाव एक ही प्रकार का नहीं है। कारण-व्यापार के द्वारा अनागत अव्यक्त 'क' को कार्यरूप में स्फुरित किया जाता है, तथापि कोई भी जागतिक कारणव्यापार अतीत 'क' को पुनः वर्त्तमान में नहीं ला सकता। यह सहजरूप से समझ में आने वाला तथ्य है कि सृष्टि का स्रोत अनागत से वर्त्तमान की ओर है। यह स्रोत अतीत से वर्त्तमान की ओर कदापि नहीं है। साथ ही यह भी सत्य है कि योगी नष्ट वस्तु का पुनरुद्धार करने में समर्थ है। यदि यह सत्य है, तब उस स्थिति में योगीगण अतीत का प्रकाशन वर्त्तमान में कैसे करते हैं? इसका संधान यह है कि यद्यपि अनागत 'क' चिन्हहीन है, तथापि जब वह वर्त्तमान होता है तब वह क्षण के द्वारा चिन्हित होने लगता है। समग्र वर्त्तमान लक्षण में जो क्षणिक परिणाम परम्परा चलती है, उसके द्वारा यह कार्यवस्तु उपलक्षित होकर अतीतगर्भ में प्रवेश करती है और पुनः अव्यक्त भाव धारण करती है।

यहाँ योगी अथवा विज्ञानविद् अतीत सत्ता का प्रत्यक्ष करके उसकी अभिव्यन्जक सामग्री को क्रियाशक्ति के द्वारा आयत्त करते हैं, अथवा इस ज्ञानगोचर सत्ता का अवलम्बन लेकर इच्छाशक्ति के प्रयोग द्वारा इस लुप्त सत्ता को पुनः उद्भूत करते हैं। अव्यक्त अनागत से जिस 'क' सत्ता की अभिव्यक्ति हो रही है और आपाततः अव्यक्त अतीत से जिस 'क' की अभिव्यक्ति होती है, क्या दोनों एक ही है? योगी के अतिरिक्त कोई भी इस रहस्य का भेदन नहीं कर सकता। वास्तव में ये दोनों सत्ता एक ही सत्ता हैं, तथापि एक सत्ता नहीं है। प्रथम सत्ता स्वभाव की अनुलोम धारा से आ रही है, किन्तु द्वितीय सत्ता योगी की संकल्पना से स्वभाव की विलोम धारा का अवलम्बन लेकर आविर्भूत है। स्थूलदृष्टि से दोनों में पार्थक्य नहीं है। दोनों में गुण, क्रिया, अवयव, संस्थान, प्रभाव, वीर्य एक ही है। इतने पर भी दोनों सत्ता पृथक् है। योगज दृष्टि के द्वारा यह पार्थक्य परिलक्षित होने लगता है। इस पार्थक्य का हेतु भी है। यह हेतु है क्षण सम्बन्ध। पूर्वोक्त 'क' में जिस क्षण सम्बन्ध का साक्षात्कार मिलता है, द्वितीय 'क' का क्षण सम्बन्ध उससे पृथक् है। जो क्षण का साक्षात्कार नहीं कर सकते, उनके लिये यह क्षणगत् पार्थक्य धारणातीत स्थिति है। अतः किसी वस्तु का नाश हो जाने पर योगबल से उसी वस्तु को पुनः प्रकट किया जा सकता। यह सत्य है, तथापि दोनों में सूक्ष्म पार्थक्य भी है। इस पार्थक्य का मूल है क्षणगत विशिष्टता।

महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज प्रणीत अन्य ग्रन्थ

१—अन्तर्यात्रा ४०)
२—गुरुदर्शन से सम्बोधि ४०)
३—आत्मनिर्झर २५)
४—श्री गुरुदर्शन तथा सत्प्रसंग भाग-१ २५)
५—[illegible] १५)
६—श्री गुरु प्रसंग ३०)
७—[illegible] ज्ञानगंज ४०)

शीघ्र प्रकाश्य—सन्त समागम; तत्वानुभूति, अखण्ड महायोग-विज्ञान तथा प्रक्रिया, महापथ

[illegible] शिवरामकिंकर योगत्रयानन्दजी (कविराज जी के [illegible]गुरु) प्रणीत ग्रन्थ

आर्यशास्त्रप्रदीप-अनुवादक—एस० एन० खण्डेलवाल १–४ भाग मूल्य १६०) रु० सेट

तंत्र ग्रंथावली (शीघ्र प्रकाश्य) मूल तथा भाषानुवाद अनुवादक-एस० एन० खण्डेलवाल—महामोक्षतंत्र, महामायातंत्र, सिद्धनागार्जुन कक्षपुटी इत्यादि

प्रकाशक

भारतीय विद्या प्रकाशन

पोस्ट बॉक्स नं० ११०८
कचौड़ीगली
वाराणसी—२२१००१ (उ.प्र.)

१, यू० बी० जवाहर नगर
बँग्लोरोड,
दिल्ली—११०००७